माणिकचन्द्र दि० जैनग्रन्थमालायाः चतुर्विंशतितमो ग्रन्थः ।

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिविरचितो

रत्नकरण्डकश्रावकाचारः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यनिर्मितटीकयोपेतः ।

श्रीयुक्त पण्डित जुगलकिशोर-मुख्तारलिखित—
प्रस्तावनेतिहासादिसमलङ्कृतः ।

प्रकाशिका—
माणिकचन्द्र दि० जैनग्रन्थमालासमितिः ।

प्रथमावृत्तिः] श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४५१ [मू० रूप्यकद्वयम् ।

विक्रमाब्दः १९८२ ।

प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी, मंत्री,
माणिकचन्द्र दि०-जैन-ग्रन्थमाला,
हीराबाग, पो० गिरगांव—बम्बई।
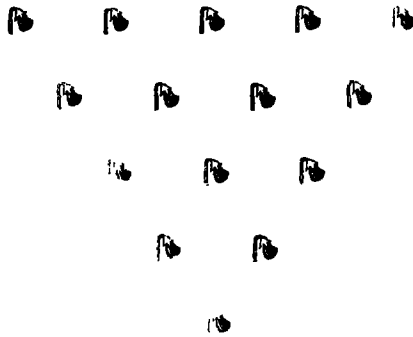
मुद्रक—

मंगेश नारायण कुळकर्णी,
कर्नाटक प्रेस, ठाकुरद्वार, बम्बई।

निवेदन ।

सटीक रत्नकरण्डको छपकर तैयार हुए एक वर्षसे भी अधिक हो गया; परन्तु इसकी प्रस्तावना और स्वामी समन्तभद्रके इतिहासके लिखनेमें आशासे अधिक समय लग गया और इस कारण यह अब तक प्रकाशित होनेसे रुका रहा। मुझे आशा है कि ग्रन्थमालाके शुभचिन्तक और पाठक जब इसकी विस्तृत प्रस्तावना और स्वामी समन्तभद्रके इतिहासको पढ़ेंगे; तब इस विलम्बजनित दोषको भूल जावेंगे, साथ ही उन्हें इसे पढ़कर बहुत अधिक प्रसन्नता भी होगी।

सुहृद्वर बाबू जुगलकिशोरजीने प्रस्तावना और इतिहासके लिखनेमें जो परिश्रम किया है, उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इतिहासज्ञ बहुश्रुत विद्वान् ही इनके मूल्यको समझेंगे। आधुनिक कालमें जैनसाहित्यके सम्बन्धमें जितने आलोचना और अन्वेषणात्मक लेख लिखे गये हैं, मेरी समझमें उन सबमें इन दोनों निबन्धोंको (प्रस्तावना और इतिहासको) अग्रस्थान मिलना चाहिए। ग्रन्थमालाके संचालक इन निबन्धोंके लिए बाबू साहबके बहुत ही अधिक कृतज्ञ हैं। साथ ही उन्हें इन बहुमूल्य निबन्धोंको इस ग्रन्थके साथ प्रकाशित कर सकनेका अभिमान है।

सटीक रत्नकरण्डका सम्पादन नीचे लिखी तीन हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे किया गया है:—

क—बम्बईके तेरापन्थी मन्दिरकी प्रति जो हाल ही को लिखी हुई है।

ख—बारामतीके पण्डित वासुदेव नेमिनाथ उपाध्यायकी खुदकी लिखी हुई प्रति।

ग—श्रीमान् सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी शोलापुरद्वारा प्राप्त प्रति।

हस्तलिखित प्रतियोंके स्वामियोंको अनेकानेक धन्यवाद।

एक विद्वान् शास्त्रीके द्वारा इस ग्रन्थकी प्रेसकापी तैयार कराई गई और एक न्यायतीर्थ पण्डितके द्वारा प्रूफसंशोधन कराया गया; फिर भी दुःखकी बात है कि ग्रन्थ बहुत ही अशुद्ध छपा—पण्डित महाशयोंने अपने उत्तरदायित्वका जरा भी खयाल नहीं रक्खा। मैं नहीं जानता था कि जिनवाणी-प्रकाशनके

इस पवित्र कार्यमें, यथेष्ट पारिश्रमिक पाते हुए भी, विद्वानोंद्वारा इतना प्रमाद किया जा सकता है।

मैं जैनेन्द्रप्रेस कोल्हापुरके मालिक सहृदय पण्डित कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेका बहुत ही कृतज्ञ हूं जिन्होंने इन अशुद्धियोंकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया और साथ ही बहुत बड़े परिश्रमके साथ एक शुद्धिपत्र बनाकर भी भेज दिया जिसका आवश्यक अंश ग्रन्थके अन्तमें दे दिया गया है। साधारण अशुद्धियोंको विस्तारभयसे छोड़ देना पड़ा।

मैं दो ढाई महीनेसे बीमार हूँ। बीमारीकी अवस्थामें ही यह निवेदन लिखा गया है। प्रस्तावना आदिका प्रूफसंशोधन भी इसी अवस्थामें हुआ है। अतएव बहुतसी त्रुटियाँ रह गई होंगी। उनके लिए पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

—मंत्री।

प्रस्तावना ।

ग्रन्थ-परिचय ।

जिस ग्रंथरत्नकी यह प्रस्तावना आज पाठकोंके सामने प्रस्तुत की जाती है वह जैनसमाजका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'रत्नकरंडक' नामका उपासकाध्ययन है, जिसे साधारण बोलचालमें अथवा आम तौर पर 'रत्नकरंडश्रावकाचार' भी कहते हैं। जैनियोंका शायद ऐसा कोई भी शास्त्रभंडार न होगा जिसमें इस ग्रंथकी एक आध प्रति न पाई जाती हो; और इससे ग्रंथकी प्रसिद्धि, उपयोगिता तथा बहुमान्यतादि-विषयक कितनी ही बातोंका अच्छा अनुभव हो सकता है।

यद्यपि यह ग्रंथ कई बार मूल रूपसे तथा हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी आदिके अनुवादों सहित प्रकाशित हो चुका है, परन्तु यह पहला ही अवसर है जब यह ग्रंथ अपनी एक संस्कृतटीका और ग्रंथ तथा ग्रंथकर्तादिके विशेष परिचयके साथ प्रकाशित हो रहा है। और इस दृष्टिसे ग्रंथका यह संस्करण अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें संदेह नहीं है।

मूल ग्रंथ स्वामीसमंतभद्राचार्यका बनाया हुआ है, जिनका विशेष परिचय अथवा इतिहास अलग लिखा गया है, और वह इस प्रस्तावनाके साथ ही प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रंथमें श्रावकोंको लक्ष्य करके उस समीचीन धर्मका उपदेश दिया गया है जो कर्मोंका नाशक है और संसारी जीवोंको संसारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखोंमें धारण करनेवाला—अथवा स्थापित करनेवाला है। वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप है और इसी क्रमसे आराधनीय है। दर्शनादिककी जो स्थिति इसके प्रतिकूल है—अर्थात्, सम्यक्रूप न होकर मिथ्या रूपको लिये हुए है—वही अधर्म है और वही संसार-परिभ्रमणका कारण है, ऐसा आचार्य महोदयने प्रतिपादन किया है।

इस ग्रंथमें धर्मके उक्त (सम्यग्दर्शनादि) तीनों अंगोंका—रत्नत्रयका—ही यत्किंचित् विस्तारके साथ वर्णन है और उसे सात[1] परिच्छेदोंमें विभाजित किया है। प्रत्येक परिच्छेदमें जो कुछ वर्णन है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

प्रथम परिच्छेदमें सत्यार्थ, आप्त आगम और तपोभृत् (गुरु) के त्रिमूढता-रहित तथा अष्टमदहीन और अष्टअंगसहित श्रद्धानको 'सम्यग्दर्शन' बतलाया है; आप्त–आगम–तपस्वीके लक्षण, लोक–देव–पाखंडिमूढताओंका स्वरूप, ज्ञानादि अष्टमदोंके नाम और निःशंकितादि अष्ट अंगोंके महत्त्वपूर्ण लक्षण दिये हैं। साथ ही, यह दिखलाया है कि रागके विना आप्त भगवानके हितोपदेश कैसे बन सकता है, अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्मसंततिको नाश करनेके लिये कैसे समर्थ नहीं होता और दूसरे धर्मात्माओंका अनादर करनेसे धर्मका ही अनादर क्योंकर होता है। इसके सिवाय सम्यग्दर्शनकी महिमाका विस्तारके साथ वर्णन दिया है और उसमें निम्नलिखित विशेषताओंका भी उल्लेख किया है—

(१) सम्यग्दर्शनयुक्त चांडालको भी 'देव' समझना चाहिये।

(२) शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, स्नेह तथा लोभसे कुदेवों, कुशास्त्रों और कुलिंगियों (कुगुरुओं) को प्रणाम तथा विनय नहीं करते।

(३) *ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासनीय है*, वह मोक्षमार्गमें खेवटियाके सदृश है और उसके विना ज्ञान तथा चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, और फलोदय उसी तरह नहीं हो पाते जिस तरह बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति आदि।

(४) निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्गी है परंतु मोही (मिथ्यादृष्टि) मुनि मोक्षमार्गी नहीं; और इस लिये मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

---

१ इस मुद्रित टीकामें ग्रंथके पाँच परिच्छेद किये गये हैं जिसका कोई विशेष कारण समझमें नहीं आया। मालूम नहीं, टीकाकार श्रीप्रभाचंदने ही ऐसा किया है अथवा यह लेखकादिकोंकी ही कृति है। हमारी रायमें सात परिच्छेद विषय-विभागकी दृष्टिसे, अच्छे मालूम होते हैं और वे ही मूल प्रतियोंमें पाये भी जाते हैं। यदि सात परिच्छेद न हों तो फिर चार होने चाहिये। गुणव्रत परिच्छेदको पूर्व परिच्छेदमें शामिल कर देना और शिक्षाव्रत परिच्छेदको शामिल न करना क्या अर्थ रखता है यह कुछ समझमें नहीं आता।

(५) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हुए जीव, अव्रती होने पर भी, नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपर्यायको धारण नहीं करते, न दुष्कुलोंमें जन्म लेते हैं, न विकृतांग तथा अल्पायु होते हैं और न दरिद्रीपनेको ही पाते हैं।

द्वितीय परिच्छेदमें सम्यग्ज्ञानका लक्षण देकर उसके विषयभूत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका सामान्य स्वरूप दिया है।

तीसरे परिच्छेदमें सम्यक्चारित्रके धारण करनेकी पात्रता और आवश्यकताका वर्णन करते हुए उसे हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवा और परिग्रहरूप पापप्रणालिकाओंसे विरतिरूप बतलाया है। साथ ही, चारित्रके 'सकल' और 'विकल' ऐसे दो भेद करके और यह जतलाकर कि सकल चारित्र सर्वसंगविरत मुनियोंके होता है और विकलचारित्र परिग्रहसहित गृहस्थोंके, गृहस्थोंके योग्य विकलचारित्रके बारह भेद किये हैं; जिनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत शामिल हैं। इसके बाद हिंसा, असत्य, चोरी, कामसेवा और परिग्रहरूपी पाँच पापोंके स्थूलरूपसे त्यागको 'अणुव्रत' बतलाया है और अहिंसादि पाँचों अणुव्रतोंका स्वरूप उनके पाँच पाँच अतीचारों सहित दिया है। साथ ही, यह प्रतिपादन किया है कि मद्य, मांस और मधुके त्यागसहित ये पंचअणुव्रत गृहस्थोंके 'अष्ट मूलगुण' कहलाते हैं।

चौथे परिच्छेदमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण नामसे तीन गुणव्रतोंका उनके पाँच पाँच अतिचारोंसहित कथन है; पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ऐसे अनर्थदंडके पाँच भेदोंका वर्णन है और भोगोपभोगकी व्याख्याके साथ उसमें कुछ विशेष त्यागका विधान, व्रतका लक्षण और यमनियमका स्वरूप भी दिया है।

पाँचवें परिच्छेदमें देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्य नामके चार शिक्षाव्रतोंका, उनके पाँच पाँच अतीचारोंसहित, वर्णन है। सामायिक और प्रोषधोपवासके कथनमें कुछ विशेष कर्तव्योंका भी उल्लेख किया है और सामायिकके समय गृहस्थको 'चेलोपसृष्ट मुनि' की उपमा दी है। वैय्यावृत्यमें संयमियोंको दान देने और देवाधिदेवकी पूजा करनेका भी विधान किया है और उस दानके आहार, औषध, उपकरण, आवास ऐसे चार भेद किये हैं।

छठे परिच्छेदमें, अनुष्ठानावस्थाके निर्देशसहित, सल्लेखना (समाधिमरण)-का स्वरूप और उसकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए, संक्षेपमें समाधि

मरणकी विधिका उल्लेख किया है और सल्लेखनाके पाँच अतीचार भी दिये हैं। अन्तमें सद्धर्मके फलका कीर्तन करते हुए, निःश्रेयस सुखके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन भी कराया गया है।

सातवें परिच्छेदमें श्रावकके उन ग्यारह पदोंका स्वरूप दिया गया है जिन्हें 'प्रतिमा' भी कहते हैं और जिनमें उत्तरोत्तर प्रतिमाओंके गुण पूर्वपूर्वकी प्रतिमाओंके संपूर्ण गुणोंको लिये हुए होते हैं और इस तरह पर क्रमशः विवृद्ध होकर तिष्ठते हैं। इन प्रतिमाओंमें छठी प्रतिमा 'रात्रिभोजनत्याग' बतलाई गई है।

इस तरह पर, इस ग्रंथमें, श्रावकोंके अनुष्ठानयोग्य धर्मका जो वर्णन दिया है वह बड़ा ही हृदयग्राही, समीचीन, सुखमूलक और प्रामाणिक है। और इसलिये प्रत्येक गृहस्थको, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अवश्य ही इस ग्रंथका भले प्रकार अध्ययन और मनन करना चाहिये। इसके अनुकूल आचरण निःसन्देह कल्याणका कर्ता है और आत्माको बहुत कुछ उन्नत तथा स्वाधीन बनानेमें समर्थ है। ग्रंथकी भाषा भी बड़ी ही मधुर, प्रौढ और अर्थगौरवको लिये हुए है। सचमुच ही यह ग्रंथ धर्मरत्नोंका एक छोटासा पिटारा है और इस लिये इसका 'रत्नकरंडक' नाम बहुत ही सार्थक जान पड़ता है।

यद्यपि, ग्रंथकार महोदयने स्वयं ही इस ग्रंथको एक छोटासा पिटारा (करंडक) बतलाया है तो भी श्रावकाचार विषयका दूसरा कोई भी ग्रंथ अभी तक ऐसा नहीं मिला जो इससे अधिक बड़ा और साथ ही अधिक प्राचीन हो *। प्रकृत विषयका अलग और स्वतत्र ग्रंथ तो शायद इससे पहलेका

---

* श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके 'चारित्रपाहुड' में श्रावकोंके संयमाचरणको प्रतिपादन करनेवाली कुल पाँच गाथाएँ हैं जिनमें ११ प्रतिमाओं तथा १२ व्रतोंके नाम मात्र दिये हैं-उनका स्वरूपादिक कुछ नहीं दिया और न व्रतोंके अतीचारोंका ही उल्लेख किया है। उमास्वाति महाराजके तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतोंके अतीचार जरूर दिये हैं परंतु दिग्व्रतादिकके लक्षणोंका तथा अनर्थदंडके भेदादिकका उसमें अभाव है और अहिंसाव्रतादिकके जो लक्षण दिये हैं वे खास श्रावकोंको लक्ष्य करके नहीं लिखे गये। सल्लेखनाका स्वरूप और विधि विधानादिक भी उसमें नहीं हैं। ११ प्रतिमाओंके कथन तथा और भी कितनी ही बातोंके उल्लेखसे वह रहित है, और इस तरह पर उसमें भी श्रावकाचारका बहुत ही संक्षिप्त वर्णन है।

कोई भी उपलब्ध नहीं है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, सोमदेव उपासकाध्ययन, अमितगति उपासकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, और लाटीसंहिता आदिक जो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं वे सब इसके बादके ही बने हुए हैं। और इस लिये, उपलब्ध जैनसाहित्यमें, यदि इस ग्रंथको 'प्रथम श्रावकाचार'का नाम दिया जाय तो शायद कुछ भी अनुचित न होगा। छोटा होनेपर भी इसमें श्रावकोंके लिये जिन सल्लक्षणान्वित धर्मरत्नोंका संग्रह किया गया है वे अवश्य ही बहुमूल्य हैं। और इस लिये यह ग्रंथ आकारमें छोटा होनेपर भी मूल्यमें बड़ा है, ऐसा कहनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं होता। प्रभाचंद्रजीने इसे अखिल सागारमार्ग (गृहस्थधर्म) को प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य लिखा है और श्रीवादिराजसूरिने 'अक्षय्यसुखावह' विशेषणके साथ इसका स्मरण किया है।

ग्रन्थपर सन्देह।

कुछ लोगोंका खयाल है कि यह ग्रंथ उन स्वामी समन्तभद्राचार्यका बनाया हुआ नहीं है जो कि जैन समाजमें एक बहुत बड़े प्रसिद्ध विद्वान हो गये हैं और जिन्होंने ' देवागम ' (आप्तमीमांसा) जैसे अद्वितीय और अपूर्व तर्कपूर्ण तात्त्विक ग्रंथोंकी रचना की है; बल्कि ' समंतभद्र ' नामके अथवा समन्तभद्रके नामसे किसी दूसरे ही विद्वानका बनाया हुआ है, और इस लिये अधिक प्राचीन भी नहीं है। परंतु उनके इस खयाल अथवा संदेहका क्या कारण है और किस आधार पर वह स्थित है, इसका कोई स्पष्टोल्लेख अभीतक उनकी ओरसे किसी पत्रादिकमें प्रकट नहीं हुआ, जिससे उसका यथोचित उत्तर दिया जा सकता। फिर भी इस व्यर्थके संदेहको दूर करने, उसकी संभावनाको मिटा देने और भविष्यमें उसकी संततिको आगे न चलने देनेके लिये यहाँ पर कुछ प्रमाणोंका उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है और नीचे उसीका यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है—

(१) ऐतिहासिक पर्यालोचन करनेसे इतना जरूर मालूम होता है कि ' समन्तभद्र ' नामके दो चार विद्वान् और भी हुए हैं; परंतु उनमें ऐसा एक भी नहीं था जो 'स्वामी' पदसे विभूषित अथवा इस विशेषणसे विशेषित हो; बल्कि एक तो लघुसमंतभद्रके नामसे अभिहित हैं, जिन्होंने अष्टसहस्री पर 'विषमपदतात्पर्यटीका' नामकी एक वृत्ति (टिप्पणी) लिखी है। ये विद्वान् स्वयं भी अपनेको 'लघुसमंतभद्र' प्रकट करते हैं।

यथा—

देवं स्वामिनममलं विद्यानंदं प्रणम्य निजभक्त्या ।
विवृणोम्यष्टसहस्रीविषमपदं लघुसमंतभद्रोऽहम् ॥

दूसरे ' चिक्क समन्तभद्र ' कहलाते हैं । आराके जैनसिद्धान्तभवनकी सूचीमें ' चिक्कसमंतभद्रस्तोत्र ' नामसे जिस पुस्तकका उल्लेख है वह इन्हींकी बनाई हुई कही जाती है और उसको निकलवाकर देखनेसे मालूम हुआ कि वह वही स्तुति है जो ' जैनसिद्धान्तभास्कर' की ४ थी किरणमें 'एक ऐतिहासिक स्तुति' के नामसे प्रकाशित हुई है और जिसके अन्तिम पद्यमें उसके रचयिताका नाम 'माघनंदिव्रती' दिया है । इससे चिक्कसमंतभद्र उक्त माघनंदीका ही नामान्तर जान पड़ता है । कर्णाटक देशके एक कनड़ी विद्वानसे भी हमें ऐसा ही मालूम हुआ है । वर्णी नेमिसागरजी भी अपने एक पत्रमें सूचित करते हैं कि " इन माघनंदीके लिये ' चिक्क समन्तभद्र ' या ' लघु समन्तभद्र ' यह नाम इधर (दक्षिणमें) रूढ है । ' चिक्क ' शब्द का अर्थ भी लघु या छोटेका है । " आश्चर्य नहीं, जो उक्त लघु समंतभद्र और यह चिक्कसमंतभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हों, और माघनंदि-व्रती भी कहलाते हों । माघनंदि-व्रती नामके एक विद्वान 'अमरकीर्ति' आचार्यके शिष्य हुए हैं, और उक्त ऐतिहासिक स्तुतिके आदि-अन्तके दोनों पद्योंमें ' अमर ' शब्द का खास तौरसे प्रयोग पाया जाता है । इससे ऐसा मालूम होता है कि संभवतः ये ही माघनंदि-व्रती अमरकीर्तिआचार्यके शिष्य थे और उन्होंने ' अमर ' शब्दके प्रयोग द्वारा, उक्त स्तुतिमें, अपने गुरुका नाम स्मरण भी किया है । यदि यह ठीक हो तो इन माघनंदि-व्रती अथवा चिक्क समन्तभद्रको विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीका विद्वान समझना चाहिये; क्योंकि माघनंदि-व्रतीके शिष्य और अमरकीर्तिके प्रशिष्य भोगराजने शक संवत १२७७ (वि० सं० १४०२) में शांतिनाथ जिनेश्वरकी एक मूर्तिको—जो आजकल रायदुर्ग ताल्लुके के दफ्तरमें मौजूद है—प्रतिष्ठित कराया था, जैसा कि उक्त मूर्तिके लेख परसे प्रकट है । *

तीसरे× गेरुसोप्पेके समन्तभद्र थे, जिनका उल्लेख ताल्लुका कोप्प जि० कडूर—

---

* देखो ' साउथ इंडियन जैनिज्म ' भाग दूसरा, पृष्ठ ५७ ।

× दक्षिण भारतका यह एक खास स्थान है जिसे क्षेमपुर भी कहते हैं और जिसका विशेष वर्णन सागर ताल्लुके ५५ वें शिला लेखमें पाया जाता है । प्रसिद्ध

के एडेहल्लि जैनवसतिसे मिले हुए चार ताम्रशासनोंमें पाया जाता है * । इन ताम्रशासनोंमें आपको 'गेरुसोप्पे–समन्तभद्र–देव' लिखा है । पहला ताम्रशासन आपके ही समयका–शक सं० १३५५ का–लिखा हुआ है और शेष आपके प्रशिष्य, अथवा आपके शिष्य गुणभद्रके शिष्य, वीरसेनके समयादिकसे सम्बन्ध रखते हैं ।

चौथे 'अभिनव समन्तभद्र' के नामसे नामांकित थे । इन अभिनव समन्तभद्र मुनिके उपदेशसे योजन-श्रेष्ठिके बनवाये हुए नेमीश्वर चैत्यालयके सामने कांसीका एक मानस्तंभ स्थापित हुआ था, जिसका उल्लेख शिमोगा जिलान्तर्गत सागर ताल्लुकेके शिलालेख नं० ५५ में मिलता है × । यह शिलालेख तुलु, कोंकण आदि देशोंके राजा देवरायके समयका है और इस लिये मि० लेविस राइस साहबने इसे ई० सन् १५६० के करीबका बतलाया है । इससे अभिनव समंतभद्र किस समयके विद्वान थे यह सहजहीमें माल्लम हो जाता है ।

पाँचवें एक समन्तभद्र भट्टारक थे, जिन्हें, जैनसिद्धान्तभास्करद्वारा प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें, अभिनव सोमसेन भट्टारकके पट्टशिष्य जिनसेन भट्टारकके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले लिखा है । साथ ही यह भी सूचित किया है कि ये अभिनव सोमसेन गुणभद्र भट्टारकके पट्टशिष्य थे । गुणभद्र भट्टारकके पट्टशिष्य सोमसेन भट्टारकका बनाया हुआ धर्मरसिक नामका एक त्रैवर्णिकाचार (त्रिवर्णाचार) ग्रंथ सर्वत्र प्रसिद्ध है–वह मुद्रित भी हो चुका है–और इस लिये ये समन्तभद्र भट्टारक उन्हीं सोमसेन भट्टारकके प्रपट्टशिष्य थे जिन्होंने उक्त त्रिवर्णाचारकी रचना की है, ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। सोमसेनका यह त्रिवर्णाचार विक्रम संवत् १६६७ में बनकर समाप्त हुआ है । अतः इन समंतभद्र भट्टारकको विक्रमकी सतरहवीं शताब्दीके अन्तिम भागका विद्वान् समझना चाहिये ।

'गेरुसोप्पे–प्रपात' (Waterfall) भी इसी स्थानके नामसे नामांकित है देखो E. C., VIII. की भूमिका । पहले २१ नंबरके ताम्रशासनमें 'गेरुसोप्पेय' ऐसा पाठ दिया है ।

* देखो, सन १९०१ में मुद्रित हुई, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका (Epigraphia Carnatica) की जिल्द छठीमें, कोप्प ताल्लुकेके लेख नं० २१,२२,२३,२४ ।

× देखो, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका,' जिल्द आठवीं ।

छठे ' गृहस्थ समंतभद्र' थे जिनका समय विक्रमकी प्रायः १७ वीं शताब्दी पाया जाता है। वे उन गृहस्थाचार्य नेमिचंद्रके भतीजे थे जिन्होंने 'प्रतिष्ठा-तिलक'नामके एक ग्रंथकी रचना की है और जिसे 'नेमिचंद्रसंहिता' अथवा 'नेमिचंद्र-प्रतिष्ठापाठ' भी कहते हैं और जिसका परिचय अप्रेल सन् १९१६ के जैनहितैषीमें दिया जा चुका है। इस ग्रंथमें समंतभद्रको साहित्यरसका प्रेमी सूचित किया है और यह बतलाया है कि वे भी उन लोगोंमें शामिल थे जिन्होंने उक्त ग्रंथके रचनेकी नेमिचंद्रसे प्रार्थना की थी। संभव है कि 'पूजाविधि' नामका ग्रंथ जो ' दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ ' नामकी सूचीमें दर्ज है वह इन्हींका बनाया हुआ हो।

(२) रत्नकरंडकके प्रणेता आचार्य समंतभद्रके नामके साथ 'लघु,' 'चिक्क,' 'गेरुसोप्पे,' ' अभिनव ' या ' भट्टारक ' शब्द लगा हुआ नहीं है और न ग्रंथमें उनका दूसरा नाम कहीं 'माघनंदी' ही सूचित किया गया है; बल्कि ग्रंथकी संपूर्ण संधियोंमें—टीकामें भी—उनके नामके साथ 'स्वामी' शब्द लगा हुआ है और यह वह पद है जिससे ' देवागम'के कर्ता महोदय खास तौरसे विभूषित थे और जो उनकी महती प्रतिष्ठा तथा असाधारण महत्ताका द्योतक है। बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उन्हें प्रायः इसी (स्वामी) विशेषणके साथ स्मरण किया है और यह विशेषण भगवान् समंतभद्रके साथ इतना रूढ जान पड़ता है कि उनके नामका प्रायः एक अंग हो गया है। इसीसे कितने ही बड़े बड़े विद्वानों तथा आचार्योंने, अनेक स्थानोंपर, नाम न देकर, केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है * और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि 'स्वामी' रूपसे आचार्य महोदयकी कितनी अधिक प्रसिद्धि थी।

---

* देखो–वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितका ' स्वामिनश्चरितं तस्य ' इत्यादि पद्य नं० १७; पं० आशाधरकृत सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृतकी टीकाओंके ' स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे, इतिस्वामिमतेन दर्शनिको भवेत् , स्वामिमतेनत्विमे (अतिचाराः), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि 'इत्यादि पद; न्यायदीपिकाका ' ' तदुक्तं स्वामिभिरेव ' इस वाक्यके साथ देवागमकी दो कारिकाओंका अवतरण और श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रंथोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य।

ऐसी हालतमें यह ग्रंथ लघुसमंतभद्रादिका बनाया हुआ न होकर उन्हीं समन्तभद्र स्वामीका बनाया हुआ प्रतीत होता है जो ' देवागम ' नामक आप्तमीमांसाग्रंथके कर्ता थे ।

(३) ' राजावलिकथे ' नामक कनड़ी ग्रंथमें भी, स्वामी समंतभद्रकी कथा देते हुए, उन्हें ' रत्नकरंडक' आदि ग्रन्थोंका कर्ता लिखा है । यथा—

" आ भाविर्तीर्थकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरङ्गुलचारणात्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेळ्दि स्याद्वादवादिगल् आगि समाधिय् ओडेदरु । "

(४) विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान पं० आशाधरजीने अनगार धर्मामृत और सागारधर्मामृतकी स्वोपज्ञटीका (भव्यकुमुदचंद्रिका) में, स्वामिसमंतभद्रके पूरे अथवा संक्षिप्त (स्वामी) नामके साथ, रत्नकरंडकके कितने ही पद्योंका–अर्थात्, उन पद्योंका जो इस ग्रंथके प्रथम परिच्छेदमें नं० ५, २२, २३, २४, ३० पर, तृतीय परिच्छेदमें नं० १६, २०, ४४ पर और पाँचवें परिच्छेदमें* नं० ७, १६, २० पर दर्ज हैं–उल्लेख किया है । और कुछ पद्योंको—जो प्रथम परिच्छेदमें नं० १४, २१,३२,४१ पर पाये जाते हैं—बिना नामके भी उद्धृत किया है । इन सब पद्योंका उल्लेख उन्होंने प्रमाणरूपसे–अपने विषयके पुष्ट करनेके अर्थ–अथवा स्वामिसमंतभद्रका मतविशेष प्रदर्शित करनेके लिये ही किया है । अनगारधर्मामृतके १६ वें पद्यकी टीकामें आप्तका निर्णय करते हुए, आपने ' आप्तो नोत्सन्नदोषेण ' इत्यादि पद्य नं० ५ को आगमका वचन लिखा है और उस आगमका कर्ता स्वामिसमंतभद्रको बतलाया है ।

यथा—

वेद्यते निश्चीयते । कोसौ ? स आप्तोत्तमः ।...कस्मात् ? आगमात्— " आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना । भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता

---

* प्रभाचंद्राचार्यने, अपनी टीकामें इस ग्रंथको पाँच परिच्छेदोंमें ही विभाजित किया है; परंतु सनातनग्रंथमालादिकमें प्रकाशित मूल ग्रंथमें सात परिच्छेद पाये जाते हैं, और उसकी दृष्टिसे ७ वें नंबरका पद्य छठे परिच्छेदका, और शेष दोनों पद्य सातवें परिच्छेदके (नं० २, ६ वाले) हैं ।

भवेत् ॥" इत्यादिकात् । किंविशिष्टात् ? शिष्टानुशिष्टात् । शिष्टा आप्तोपदेशसंपादितशिक्षाविशेषाः स्वामिसमन्तभद्रादयः तैरनुशिष्टाद्गुरुपर्वक्रमेणोपदिष्टात् ।

इस उल्लेखसे यह बात भी स्पष्ट है कि विद्वद्वर आशाधरजीने रत्नकरंडक नामके उपासकाध्ययनको 'आगमग्रंथ' प्रतिपादन किया है ।

एक स्थान पर आपने मूढताओंका निर्णय करते हुए, 'कथमन्यथेदं स्वामिसूक्तमुपपद्येत' इस वाक्यके साथ रत्नकरंडकका 'भयाशास्नेहलोभाच्च' इत्यादि पद्य नं० ३० उद्धृत किया है और उसके बाद यह नतीजा निकाला है कि इस स्वामिसूक्तके अनुसार ही ठक्कुर (अमृतचंद्राचार्य) ने भी 'लोके शास्त्राभासे' इत्यादि पद्यकी (जो कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायका २६ वें नंबरका पद्य है) घोषणा की है ।

यथा—" एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।

नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ "

इस उल्लेखसे यह पाया जाता है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जैसे माननीय ग्रंथमें भी रत्नकरंडकका आधार लिया गया है और इस लिये यह ग्रंथ उससे भी अधिक प्राचीन तथा माननीय है ।

(५) श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवने, नियमसारकी टीकामें, '**तथा चोक्तं श्रीसमंतभद्रस्वामिभिः**' '**उक्तं चोपासकाध्ययने**' इन वाक्योंके साथ, रत्नकरंडकके '**अन्यूनमनतिरिक्तं**' और '**आलोच्यसर्वमेनः**' नामके दो पद्य उद्धृत किये हैं, जो क्रमशः यहाँ द्वितीय परिच्छेदमें नं० १ और पाँचवें परिच्छेदमें नं० ४ पर दर्ज हैं । पद्मप्रभमलधारिदेवका अस्तित्व समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके लगभग पाया जाता है । इससे यह ग्रंथ आजसे आठसौ वर्ष पहले भी स्वामिसमंतभद्रका बनाया हुआ माना जाता था, यह बात स्पष्ट है ।

(६) विक्रमकी ११ वीं शताब्दी (पूर्वार्ध) के विद्वान् श्रीचामुंडरायने 'चरित्रसार'में रत्नकरंडकका 'सम्यग्दर्शनशुद्धाः' इत्यादि पद्य नं० ३५ उद्धृत किया है । इतना ही नहीं बल्कि कितने ही स्थानोंपर इस ग्रंथके लक्षणादिकोंको उत्तम समझकर उन्हें शब्दानुसरणसहित अपने ग्रन्थका एक अंग भी बनाया है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पंचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥

—रत्नकरंडक ।

दर्शनिकः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पंचगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शन-शुद्धश्च भवति ।

—चारित्रसार ।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

—रत्नकरंडक ।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतीकाररुजायां । धर्मार्थं तनुत्यजनं सल्लेखना ।

—चारित्रसार ।

यह 'चारित्रसार' ग्रन्थ उन पाँच सात खास माननीय* ग्रन्थोंमेंसे है जिनके आधारपर पं० आशाधरजीने सागरधर्मामृतकी रचना की है, और इसलिये उसमें रत्नकरंडकके इस प्रकारके शब्दानुसरणसे रत्नकरंडककी महत्ता, प्राचीनता और मान्यता और भी अधिकताके साथ ख्यापित होती है। और भी कितने ही प्राचीन ग्रंथोंमें अनेक प्रकारसे इस ग्रंथका अनुसरण पाया जाता है, जिनके उल्लेखको विस्तारभयसे हम यहाँ छोड़नेके लिये मजबूर हैं।

(७) श्रीवादिराजसूरि नामके सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्यने अपना 'पार्श्वनाथ-चरित' शक संवत् ९४७ में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रंथमें साफ तौरसे 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' दोनोंके कर्ता स्वामी समंतभद्रको ही सूचित किया है। यथा—

' स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥

अर्थात्—उन स्वामी (समंतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयकारक नहीं है जिन्होंने 'देवागम' के द्वारा आज तक सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है।

---

* वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—१ रत्नकरंडक, २ सोमदेवकृत यशस्तिलकान्तर्गत उपासकाध्ययन, ३ चारित्रसार, ४ वसुनंदिश्रावकाचार, ५ श्रीजिनसेनकृत आदि-पुराण, ६ तत्त्वार्थसूत्र आदि ।

वे ही योगीन्द्र (समंतभद्र) त्यागी (दानी) हुए हैं जिन्होंने अर्थी भव्यसमूहको अक्षयसुखकारक ' रत्नकरंडक ' (धर्मरत्नोंका पिटारा) दान किया है।

इन सब प्रमाणोंकी मौजूदगीमें इस प्रकारके संदेहको कोई अवसर नहीं रहता कि, यह ग्रंथ 'देवागम'के कर्ता स्वामी समंतभद्रको छोड़कर दूसरे किसी समंतभद्रका बनाया हुआ है, अथवा आधुनिक है। खुद ग्रंथका साहित्य भी इस संदेहमें कोई सहायता नहीं देता। वह, विषयकी सरलताआदिकी दृष्टिसे, प्रायः इतना प्रौढ, गंभीर, उच्च और क्रमबद्ध है कि उसे स्वामी समंतभद्रका साहित्य स्वीकार करनेमें जरा भी हिचकिचाट नहीं होती। ग्रंथभरमें ऐसा कोई कथन भी नहीं है जो आचार्य महोदयके दूसरे किसी ग्रंथके विरुद्ध पड़ता हो, अथवा जो जैनसिद्धान्तोंके ही प्रतिकूल हो और जिसको प्रचलित करनेके लिये किसीको भगवान् समंतभद्रका सहारा लेना पड़ा हो। ऐसी हालतमें और उपर्युक्त प्रमाणोंकी रोशनीमें इस बातकी तो कल्पना भी नहीं हो सकती कि इतने सुदूरभूत कालमें--हजार वर्षसे भी पहले--किसीने विनावजह ही स्वामी समंतभद्रके नामसे इस ग्रंथकी रचना की हो, और तबसे अबतक, ग्रंथके इतना अधिक नित्यके परिचयमें आते-और अच्छे अच्छे अनुभवी विद्वानों तथा आचार्योंके हाथोंमेंसे गुजरनेपर भी, किसीने उसको लक्षित न किया हो। इस लिये ग्रंथके कर्ताविषयका यह संपूर्ण संदेह निर्मूल जान पड़ता है।

जहाँतक हम समझते हैं और हमें मालूम भी हुआ है, लोगोंके इस संदेहका सिर्फ एक ही कारण है और वह यह है कि, ग्रंथमें उस ' तर्कपद्धति' का दर्शन नहीं होता जो समंतभद्रके दूसरे तर्कप्रधान ग्रंथोंमें पाई जाती है और जिनमें अनेक विवादग्रस्त विषयोंका विवेचन किया गया है—संशयालु लोग समन्तभद्रद्वारा निर्मित होनेके कारण इस ग्रंथको भी उसी रँगमें रंगा हुआ देखना चाहते थे जिसमें वे देवागमादिकको देख रहे हैं। परंतु यह उनकी भारी भूल तथा गहरा भ्रम है। मालूम होता है उन्होंने श्रावकाचारविषयक जैनसाहित्यका कालक्रमसे अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे अवलोकन नहीं किया और न देश तथा समाजकी तात्कालिक स्थिति पर ही कुछ विचार किया है। यदि ऐसा होता तो उन्हें मालूम हो जाता कि उस वक्त—स्वामी समन्तभद्रके समयमें—और उससे भी पहले श्रावक लोग प्रायः साधुमुखापेक्षी हुआ करते थे—उन्हें स्वतंत्र रूपसे ग्रंथोंको अध्ययन करके अपने मार्गका निश्चय करनेकी जरूरत नहीं होती थी; बल्कि साधु तथा मुनिजन ही उस वक्त, धर्म विषयमें, उनके

एक मात्र पथप्रदर्शक होते थे। देशमें उस समय मुनिजनोंकी खासी बहुलता थी और उनका प्रायः हरवक्तका सत्समागम बना रहता था। इससे गृहस्थ लोग धर्मश्रवणके लिये उन्हींके पास जाया करते थे और धर्मकी व्याख्याको सुनकर उन्हींसे अपने लिये कभी कोई व्रत, किसी खास व्रत अथवा व्रतसमूहकी याचना किया करते थे। साधुजन भी श्रावकोंको उनके यथेष्ट कर्तव्य कर्मका उपदेश देते थे, उनके याचित व्रतको यदि उचित समझते थे तो उसकी गुरुमंत्रपूर्वक उन्हें दीक्षा देते थे और यदि उनकी शक्ति तथा स्थिति-योग्य उसे नहीं पाते थे तो उसका निषेध कर देते थे; साथ ही जिस व्रतादिकका उनके लिये निर्देश करते थे उसके विधिविधानको भी उनकी योग्यताके अनुकूल ही नियंत्रित कर देते थे। इस तरहपर गुरुजनोंके द्वारा धर्मोपदेशको सुनकर धर्मानुष्ठानकी जो कुछ शिक्षा श्रावकोंको मिलती थी उसीके अनुसार चलना वे अपना धर्म—अपना कर्तव्यकर्म—समझते थे, उसमें 'चूँचरा' (किं, कथमित्यादि) करना उन्हें नहीं आता था, अथवा यों कहिये कि उनकी श्रद्धा और भक्ति उन्हें उस ओर (संशयमार्गकी तरफ) जाने ही न देती थी। श्रावकोंमें सर्वत्र आज्ञाप्रधानताका साम्राज्य स्थापित था और अपनी इस प्रवृत्ति तथा परिणतिके कारण ही वे लोग श्रावक* तथा श्राद्ध× कहलाते थे। उस वक्त तक श्रावकधर्ममें, अथवा स्वाचार-विषयपर श्रावकोंमें तर्कका प्रायः प्रवेश ही नहीं हुआ था और न नाना आचार्योंका परस्पर इतना मतभेद ही हो पाया था जिसकी व्याख्या करने अथवा जिसका सामंजस्य स्थापित

---

* 'शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः' (सा० ध० टी०) जो गुरु आदिकके मुखसे धर्म श्रवण करता है उसे श्रावक (सुननेवाला) कहते हैं।

संपत्तदंसणाई पइदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं बिन्ति ॥ —श्रावकप्रज्ञप्ति।

जो सम्यग्दर्शनादियुक्त गृहस्थ प्रतिदिन मुनिजनोंके पास जाकर परम सामाचारीको (साधु तथा गृहस्थोंके आचारविशेषको) श्रवण करता है उसे 'श्रावक' कहते हैं।

× श्रद्धासमन्वित अथवा श्रद्धा-गुण-युक्तको 'श्राद्ध' कहते हैं, ऐसा हेमचंद्र तथा श्रीधरसेनादि आचार्योंने प्रतिपादन किया है। मुनिजनोंके आचार-विचारमें श्रद्धा रखनेके कारण ही उनके उपासक 'श्राद्ध' कहलाते थे।

करने आदिके लिये किसीको तर्क-पद्धतिका आश्रय लेनेकी जरूरत पड़ती। उस वक्त तर्कका प्रयोग प्रायः स्वपरमतके सिद्धान्तों तथा आप्तादि विवादग्रस्तविषयोंपर ही होता था। वे ही तर्ककी कसौटीपर चढ़े हुए थे, उन्हींकी परीक्षा तथा निर्णयादिके लिये उसका सारा प्रयास था। और इसलिये उस वक्तके जो तर्क-प्रधान ग्रंथ पाये जाते हैं वे प्रायः उन्हीं विषयोंको लिये हुए हैं। जहाँ विवाद नहीं होता वहाँ तर्कका काम भी नहीं होता। इसीसे छंद, अलंकार, काव्य, कोश, व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिषादि दूसरे कितने ही विषयोंके ग्रंथ तर्कपद्धतिसे प्रायः शून्य पाये जाते हैं। खुद स्वामी समंतभद्रका 'जिनशतक' नामक ग्रंथ भी इसी कोटिमें स्थित है—स्वामीद्वारा निर्मित होनेपर भी उसमें 'देवागम' जैसी तर्क-प्रधानता नहीं पाई जाती—वह एक कठिन, शब्दालंकारप्रधान ग्रंथ है और आचार्य महोदयके अपूर्व काव्यकौशल, अद्भुत व्याकरणपांडित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको सूचित करता है। 'रत्नकरंडक' भी उन्हीं तर्कप्रधानता-रहित ग्रंथोंमेंसे एक ग्रंथ है और इसलिये उसकी यह तर्कहीनता संदेहका कोई कारण नहीं हो सकती। ऐसा कोई नियम भी नहीं है जिससे एक ग्रंथकार अपने संपूर्ण ग्रंथोंमें एक ही पद्धतिको जारी रखनेके लिये बाध्य हो सके। नाना विषयोंके ग्रंथ नाना प्रकारके शिष्योंको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं और उनमें विषय तथा शिष्यरुचिकी विभिन्नताके कारण लेखनपद्धतिमें भी अक्सर विभिन्नता हुआ करती है। यह दूसरी बात है कि उनके साहित्यमें प्रौढता, प्रतिपादनकुशलता और शब्दविन्यासादि कितनी ही बातोंकी परस्पर समानता पाई जाती हो और इस समानतासे 'रत्नकरंडक' भी खाली नहीं है।

यहाँ पर ग्रन्थकर्तृत्व सम्बधमें इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि मिस्टर बी॰ लेविस राइस साहबने, अपनी 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेल्गोल' नामक पुस्तककी भूमिकामें रत्नकरंडकके सल्लेखनाधिकारसम्बन्धी 'उपसर्गे दुर्भिक्षे......' इत्यादि सात पद्योंको उद्धृत करते हुए, लिखा है कि यह 'रत्नकरंडक' 'आयितवर्म्मा'का बनाया हुआ एक ग्रन्थ है। यथा—

The vow in performance of which they thus starved themselves to death is called Sallêkhanâ and the following is the description of it in the **Ratnakarandaka, a work by Âyit-Varmmâ.**

परंतु आयितवर्म्मा कौन थे, कब हुए हैं और कहाँसे अथवा किस जगहकी ग्रन्थप्रतिपरसे उन्हें इस नामकी उपलब्धि हुई इत्यादि बातोंका भूमिकामें कोई उल्लेख नहीं है। हाँ आगे चलकर स्वामी समन्तभद्रको भी 'रत्नकरंडक'का कर्ता लिखा है और यह बतलाया है कि उन्होंने पुनर्दीक्षा लेनेके पश्चात् इस ग्रन्थकी रचना की है—

Samantabhadra, having again taken dîksha, composed the Ratna Karandaka & other Jinâgam, Purans & became a professor of Syâdvâda.

यद्यपि, 'आयितवर्म्मा' यह नाम बहुत ही, अश्रुतपूर्व जान पड़ता है और जहाँ तक हमने जैनसाहित्यका अवगाहन किया है हमें किसी भी दूसरी जगहसे इस नामकी उपलब्धि नहीं हुई। तो भी इतना संभव है कि 'शांतिवर्मा'की तरह 'आयितवर्मा' भी समन्तभद्रके गृहस्थजीवनका एक नामान्तर हो अथवा शांतिवर्म्माकी जगह गलतीसे ही यह लिख गया हो। यदि ऐसा कुछ नहीं है तो उपर्युक्त प्रमाण-समुच्चयके आधार पर हमें इसे कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि राइस साहबका इस ग्रंथको आयितवर्म्माका बतलाना बिलकुल गलत और भ्रममूलक है—उन्हें अवश्य ही इस उल्लेखके करनेमें कोई गलतफहमी अथवा विप्रतिपत्ति हुई है। अन्यथा यह ग्रंथ स्वामी समन्तभद्रका ही बनाया हुआ है और उन्हींके नामसे प्रसिद्ध है।

यह सब लिखे जानेके बाद, हालमें हमें उक्त पुस्तकके नये संस्करणको देखनेका अवसर मिला, जो सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ है, और उस परसे हमें यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इस संस्करणमें राइस साहबकी उक्त गलतीका सुधार कर दिया गया है और साफ तौर पर 'रत्नकरंडक आव् समंतभद्र' (Ratna Karandaka of Samantabhadra) शब्दोंके द्वारा 'रत्नकरंडक'को समन्तभद्रका ही ग्रंथ स्वीकार किया है।

ग्रन्थके पद्योंकी जाँच।

समाजमें कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो इस ग्रंथको स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ तो जरूर स्वीकार करते हैं, परंतु उन्हें इस ग्रंथके कुछ पद्यों पर संदेह है। उनके विचारसे ग्रंथमें कुछ ऐसे पद्य भी पाये जाते हैं जो मूल ग्रंथका अंग न होकर किसी दूसरे ग्रंथ अथवा ग्रंथोंके पद्य हैं और बादको किसी

तरह पर ग्रंथमें शामिल हो गये हैं। ऐसे पद्योंको वे लोग ' क्षेपक ' अथवा ' प्रक्षिप्त ' कहते हैं और इस लिये ग्रन्थपर संदेहका यह एक दूसरा प्रकार है जिसका यहाँ पर विचार होनेकी जरूरत है—

ग्रंथपर इस प्रकारके संदेहको सबसे पहले पं॰ पन्नालालजी बाकलीवालने, सन् १८९८ ईसवीमें, लिपिबद्ध किया। इस सालमें आपने रत्नकरंडश्रावकाचारको अन्वय, और अन्वयानुगत हिन्दी अनुवादसहित तयार करके उसे ' दिगम्बर जैनपुस्तकालय—वर्धा ' द्वारा प्रकाशित कराया है। ग्रंथके इस संस्करणमें २१ इक्कीस पद्योंको 'क्षेपक' प्रकट किया गया अथवा उनपर ' क्षेपक ' होनेका संदेह किया गया है जिनकी क्रमिकसूची, कुछ आद्याक्षरोंको लिये हुए, निम्न प्रकार है—

तावदंजन; ततोजिनेंद्र; यदि पाप; श्वापि देवो; भयाशास्नेह; मातंगो; धनश्री; मद्यमांस; प्रत्याख्यान; यदनिष्टं; व्यापार; श्रीषेण; देवाधिदेव; अर्हच्चरण; निःश्रेयस; जन्मजरा; विद्यादर्शन; कालेकल्प; निःश्रेयसमधिपन्ना; पूजार्था; सुखयतु।

इन पद्योंमेंसे कुछके ' क्षेपक ' होनेके हेतुओंका भी फुट नोटों द्वारा उल्लेख किया गया है जो यथाक्रम इस प्रकार हैं—

' तावदंजन ' और 'ततोजिनेंद्र' ये दोनों पद्य समन्तभद्रकृत नहीं हैं; परंतु दूसरे किसी आचार्य अथवा ग्रंथके ये पद्य हैं ऐसा कुछ बतलाया नहीं। तीसरे ' यदि पाप ' पद्यका ग्रंथके विषयसे संबंध नहीं मिलता। 'श्वापि देवो' 'भयाशा' और 'यदनिष्टं' नामके पद्योंका सम्बंध, अन्वय तथा अर्थ ठीक नहीं बैठता। 'श्रीषेण,' 'देवाधिदेव' और 'अर्हच्चरण' ये पद्य ग्रंथके स्थलसे सम्बंध नहीं रखते। पंद्रहवें ' निःश्रेयस 'से बीसवें ' पूजार्था ' तकके ६ पद्योंका अन्वयार्थ तथा विषयसम्बंध ठीक ठीक प्रतिभास नहीं होता और ११ वाँ 'व्यापार' नामका पद्य ' अनभिज्ञ क्षेपक ' है—अर्थात् यह पद्य मूर्खता अथवा नासमझीसे ग्रंथमें प्रविष्ट किया गया है। क्यों कि प्रथम तो इसका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता; दूसरे अगले श्लोकमें अन्यान्य ग्रंथोंकी तरह, प्रतिदिन सामायिकका उपदेश है और इस श्लोकमें केवल उपवास अथवा एकासनेके दिन ही सामायिक करनेका उपदेश है, इससे पूर्वापर विरोध आता है। इस पद्यके सम्बंधमें जोरके साथ यह वाक्य भी कहा गया है कि " श्रीमत्समंतभद्रस्वामीके ऐसे वचन कदापि नहीं हो सकते, " और इस पद्यका अन्वय तथा अर्थ भी नहीं दिया गया। अन्तिम

पद्यको भी शायद ऐसा ही भारी क्षेपक समझा है और इसीसे उसका भी अन्वयार्थ नहीं किया गया। शेष पद्योंके सम्बंधमें सिर्फ इतना ही प्रकट किया है कि वे 'क्षेपक' मालूम होते अथवा बोध होते हैं। उनके क्षेपकत्वका कोई हेतु नहीं दिया। हाँ, भूमिकामें इतना जरूर सूचित किया है कि "शेषके श्लोकोंका हेतु विस्तृत होनेके कारण प्रकाशित नहीं किया गया सो पत्रद्वारा या साक्षात् होनेपर प्रगट हो सकता है।"

इस तरहपर बाकलीवालजीके तात्कालिक संदेहका यह रूप है। उनकी इस कृतिसे कुछ लोगोंके संदेहको पुष्टि मिली और कितने ही हृदयोंमें नवीन संदेहका संचार भी हुआ।

यद्यपि, इस ग्रंथके सम्बंधमें अभीतक कोई प्राचीन उल्लेख अथवा पुष्ट प्रमाण ऐसा देखनेमें नहीं आया जिससे यह निश्चित हो सके कि स्वामी समंतभद्रने इसे इतने श्लोकपरिमाण निर्माण किया था, न ग्रंथकी सभी प्रतियोंमें एक ही श्लोकसंख्या पाई जाती है—बल्कि कुछ प्रतियाँ ऐसी भी उपलब्ध होती हैं जिनमें श्लोकसंख्या डेढसौसे भी बढ़ी हुई है—और इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि टीका-टिप्पणवाली प्रतियोंपरसे किसी मूल ग्रंथकी नकल उतारते समय, लेखकोंकी असावधानी अथवा नासमझीके कारण, कभी कभी उन प्रतियोंमें 'उक्तं च' रूपसे दिये हुए अथवा समर्थनादिके लिये टिप्पणी किये हुए—हाशियेपर (Margin) नोट किये हुए—दूसरे ग्रंथोंके पद्य भी मूल ग्रंथमें शामिल हो जाते हैं; और इसीसे कितने ही ग्रंथोंमें 'क्षेपक' पाये जाते हैं *। इसके सिवाय प्रकृत ग्रंथमें कुछ पद्य ऐसी अवस्थामें भी अवश्य हैं कि यदि उन्हें ग्रंथसे पृथक् कर दिया जाय तो उससे शेष पद्योंके क्रम तथा विषयसम्बंधमें परस्पर कोई बाधा नहीं आती और न कुछ अन्तर ही पड़ता है। ‡ ऐसी हाल-

---

* इस विषयके एक उदाहरणके लिये देखो 'पूज्यपाद–उपासकाचारकी जाँच' वाला हमारा लेख, जो जैनहितैषी भाग १५ के अंक १२ वें में प्रकाशित हुआ है। हालमें 'दशभक्ति' नामका एक ग्रंथ शोलापुरसे, संस्कृतटीका और मराठी अनुवादसहित, प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम होता है कि दशभक्तियोंके मूलपाठोंमें भी कितने ही क्षेपक शामिल हो रहे हैं। यह सब नासमझ और असावधान लेखकोंकी कृपाका ही फल है!

‡ जैसे कि कथाओंका उल्लेख करनेवाले 'तावदंजन चौरोङ्गे' आदि पद्य।

तमें ग्रंथके कुछ पद्योंपर संदेहका होना अस्वाभाविक नहीं है। परंतु ये सब बातें किसी ग्रन्थप्रतिमें 'क्षेपक' होनेका कोई प्रमाण नहीं हो सकतीं।

और इसलिये इतने परसे ही, विना किसी गहरी खोज और जाँचके सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथकी वर्तमान (१५० पद्यों वाली) प्रतिमें भी कोई क्षेपक जरूर शामिल हैं। ग्रंथके किसी भी पद्यको 'क्षेपक' बतलानेसे पहले इस बातकी जाँचकी बड़ी जरूरत है कि, उक्त पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयसम्बन्धादिकमें किसी प्रकारकी बाधा न आते हुए भी, नीचे लिखे कारणोंमेंसे कोई कारण उपलब्ध है या कि नहीं—

१ दूसरे अमुक विद्वान्, आचार्य अथवा ग्रंथका वह पद्य है और ग्रंथमें 'उक्तं च' आदिरूपसे नहीं पाया जाता।

२ ग्रंथकर्ताके दूसरे ग्रंथ या उसी ग्रंथके अमुक पद्य अथवा वाक्यके वह विरुद्ध पड़ता है।

३ ग्रंथके विषय, संदर्भ, कथनक्रम अथवा प्रकरणके साथ वह असम्बद्ध है।

४ ग्रंथकी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध और असंदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता।

५ ग्रन्थके साहित्यसे उसके साहित्यका कोई मेल नाहीं खाता, ग्रन्थकी कथनशैली उसके अस्तित्वको नहीं चाहती अथवा ग्रन्थकर्ताद्वारा ऐसे कथन-की संभावना ही नहीं है।

जब तक इन कारणोंमेंसे कोई भी कारण उपलब्ध न हो और जब तक यह न बतलाया जाय कि उस पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयसम्बन्धा-दिकमें कोई प्रकारकी बाधा नहीं आती तब तक किसी पद्यको क्षेपक कहनेका साहस करना दुःसाहस मात्र होगा।

पं० पन्नालालजी बाकलीवालने जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया है अथवा जिन-पर क्षेपक होनेका संदेह किया है उनमेंसे किसी भी पद्यके सम्बंधमें उन्होंने यह प्रकट नहीं किया कि वह दूसरे अमुक आचार्य, विद्वान् अथवा ग्रंथका पद्य है, या उसका कथन स्वामी समंतभद्रप्रणीत उसी या दूसरे ग्रन्थके अमुक पद्य अथवा वाक्यके विरुद्ध है; न यही सूचित किया कि रत्नकरंडककी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध तथा असंदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता, या उसका साहित्य ग्रंथके दूसरे साहित्यसे मेल नहीं खाता, और न एक पद्यको छोड़कर दूसरे

किसी पद्यके सम्बंधमें इस प्रकारका कोई विवेचन ही उपस्थित किया कि, वैसा कथन स्वामी समंतभद्रका क्यों कर नहीं हो सकता। और इस लिये आपका संपूर्ण हेतुप्रयोग उपर्युक्त कारणकलापके प्रायः तीसरे नम्बरमें ही आ जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि बाकलीवालजीने उन पद्योंको मूल ग्रंथके साथ असम्बद्ध समझा है। उनकी समझमें कुछ पद्योंका अन्वयार्थ ठीक न बैठने या विषयसम्बंध ठीक प्रतिभासित न होने आदिका भी यही प्रयोजन है। अन्यथा, 'चतुरावर्तत्रितय' नामके पद्यको भी वे 'क्षेपक' बतलाते जिसका अन्वयार्थ उन्हें ठीक नहीं भासा।

परंतु वास्तवमें वे सभी पद्य वैसे नहीं हैं जैसा कि बाकलीवालजीने उन्हें समझा है। विचार करनेपर उनके अन्वयार्थ तथा विषयसम्बंधमें कोई खास खराबी मालूम नहीं होती और इसका निर्णय ग्रंथकी संस्कृतटीका परसे भी सहजहीमें हो सकता है। उदाहरणके तौर पर हम यहाँ उसी एक पद्यको लेते हैं जिसे बाकलीवालजीने 'अनभिज्ञक्षेपक' लिखा है और जिसके विषयमें आपका विचार संदेहकी कोटिसे निकलकर निश्चयकी हदको पहुँचा हुआ मालूम होता है। साथ ही जिसके सम्बंधमें आपने यहां तक कहनेका भी साहस किया है कि "स्वामी समंतभद्रके ऐसे वचन कदापि नहीं हो सकते।" वह पद्य इस प्रकार है—

> व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
> सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा॥

इस पद्यमें, प्रधानतासे और तद्व्रतानुयायी सर्व साधारणकी दृष्टिसे, उपवास तथा एकभुक्तके दिन सामायिक करनेका विधान किया गया है–यह नहीं कहा गया है कि केवल उपवास तथा एकभुक्तके दिन ही सामायिक करना चाहिये। फिर भी इससे कभी कोई यह न समझ ले कि दूसरे दिन अथवा नित्य सामायिक करनेका निषेध है अतः आचार्य महोदयने अगले पद्यमें इस बातको स्पष्ट कर दिया है और लिख दिया है कि नित्य भी (प्रतिदिवसमपि) निरालसी होकर सामायिक करना चाहिये। वह अगला पद्य इस प्रकार है—

> सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
> व्रतपंचकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन॥

इस पद्यमें 'प्रतिदिवसं' के साथ 'अपि' शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और वह इस पद्यसे पहले 'प्रतिदिवससामायिक' से भिन्न किसी

दूसरे विधानको माँगता है। यदि पहला पद्य ग्रंथसे निकाल दिया जाय तो यह ' अपि ' शब्द बहुत कुछ खटकने लगता है। अतः उक्त पद्य क्षेपक नहीं है और न अगले पद्यके साथ उसका कोई विरोध जान पड़ता है। उसे ' अनभिज्ञक्षेपक ' बतलाना अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करना है। मालूम होता है कि बाकलीवालजीका ध्यान इस ' अपि ' शब्द पर नहीं गया और इसीसे उन्होंने इसका अनुवाद भी नहीं दिया। साथ ही, उस अनभिज्ञक्षेपकका अर्थ भी उन्हें ठीक प्रतिभासित नहीं हुआ। यही वजह है कि उन्होंने उसमें व्यर्थ ही 'केवल ' और ' ही ' शब्दोंकी कल्पना की और उन्हें क्षेपकत्वके हेतु स्वरूप यह भी लिखना पड़ा कि इस पद्यका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता। अन्यथा इस पद्यका अन्वय कुछ भी कठिन नहीं है–' सामयिकं बध्नीयात्'को पद्यके अन्तमें कर देनेसे सहज ही अन्वय हो जाता है। दूसरे पद्योंके अन्वयार्थ तथा विषयसम्बंधकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है। उन्हें भी आपने उस वक्त ठीक तौरसे समझा मालूम नहीं होता और इस लिये उनका वह सब उल्लेख प्रायः भूलसे भरा हुआ जान पड़ता है। हालमें, हमारे दर्याफ्त करने पर, बालकीवालजीने, अपने १८ जून सन् १९२३ के पत्रमें, इस भूलको स्वीकार भी किया है, जिसे हम उन्हींके शब्दोंमें नीचे प्रकट करते हैं—

" रत्नकरंडके प्रथम संस्करणमें जिन पद्योंको मैंने क्षेपक ठहराया था उसमें कोई प्रमाण नहीं उस वक्तकी अपनी तुच्छ बुद्धिसे ही ऐसा अनुमान हो गया था। संस्कृतटीकामें सबकी युक्तियुक्त टीका देखनेसे मेरा मन अब नहीं है कि वे क्षेपक हैं। वह प्रथम ही प्रथम मेरा काम था संस्कृत टीका देखनेमें आई नहीं थी इसीलिये विचारार्थ प्रश्नात्मक (?) नोट कर दिये गये थे। सो मेरी भूल थी।"

यद्यपि यह बाकलीवालजीकी उस वक्तकी भूल थी परंतु इसने कितने ही लोगोंको भूलके चक्करमें डाला है, जिसका एक उदाहरण पं० नाना रामचंद्रजी नाग हैं। आपने बाकलीवालजीकी उक्त कृति परसे उन्हीं २१ पद्योंपर क्षेपक होनेका संदेह किया हो सो नहीं, बल्कि उनमेंसे पंद्रह + पद्योंको बिलकुल ही

+ उक्त २१ पद्योंमेंसे निम्नलिखित छह पद्योंको छोड़कर जो शेष रहते हैं उनको—

मद्यमांस, यदनिष्टं, निःश्रेयस, जन्मजरा, विद्यादर्शन, काले कल्प।

ग्रंथसे बाहरकी चीज समझ लिया। साथ ही तेरह* पद्योंको और भी उन्हीं जैसे मानकर उन्हें उसी कोटिमें शामिल कर दिया और इस तरहपर इकीसकी जगह अट्ठाईस पद्योंको 'क्षेपक' करार देकर उन्हें 'उपासकाध्ययन' की उस प्रथमावृत्तिसे बिलकुल ही निकाल डाला—छापा तक भी नहीं—जिसको उन्होंने शक सं० १८२६ (वि० सं० १९६१) में मराठी अनुवादसहित प्रकाशित किया था। इसके बाद नाग साहबने अपनी बुद्धिको और भी उसी मार्गमें दौड़ाया और तब आपको अन्धकारमें ही—विना किसी आधार प्रमाणके—यह सूझ पड़ा कि इस ग्रंथमें और भी कुछ क्षेपक हैं जिन्हें ग्रंथसे बाहर निकाल देना चाहिये। साथ ही, यह भी मालूम पड़ा कि निकाले हुए पद्योंमेंसे कुछका फिरसे ग्रंथमें प्रवेश कराना चाहिये। और इस लिये पिछले साल, शक सं० १८४४ (वि० सं० १९७९) में जब आपने इस ग्रंथकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित कराई तब आपने अपनी उस सूझ बूझको कार्यमें परिणत कर डाला—अर्थात्, प्रथमावृत्तिवाले २८ पद्योंमेंसे २३ + और २६ † नये इस प्रकार ४९ × पद्योंको उक्त

---

* उन तेरह पद्योंकी सूची इस प्रकार है—

ओजस्तेजो, अष्टगुण, नवनिधि, अमरासुर, शिवमजर, रागद्वेष, मकराकर, पंचानां (७२), गृहहारि, संवत्सर, सामायिकं, गृहकर्मणा, उच्चैर्गोत्रं।

+ पांच पद्य जिन्हें प्रथमावृत्तिमें, ग्रंन्थसे बाहरकी चीज समझकर, निकाल दिया गया था और द्वितीयावृत्तिमें जिनको पुनः प्रविष्ट किया गया है वे इस प्रकार हैं—

मकराकर, गृहहारि, संवत्सर, सामयिकं, देवाधिदेव।

† इन २६ पद्योंमें छह तो वे बाकलीवालजीवाले पद्य हैं जिन्हें आपने प्रथमावृत्तिके अवसर पर क्षेपक नहीं समझा था और जिनके नाम पहले दिये जाचुके हैं। शेष २० पद्योंकी सूची इस प्रकार है—

देशयामि, क्षुत्पिपासा, परमेष्ठी, अनात्मार्थं, सम्यग्दर्शन (२८), दर्शनं, गृहस्थो, न सम्यक्त्व, मोहतिमिरा, हिंसानृत, सकलं, अल्पफल, सामयिके, शीतोष्ण, अशरण, चतुराहार, नवपुण्यैः, क्षितिगत, श्रावकपदानि, येन स्वयं।

× अक्टूबर सन १९२१ के 'जैनबोधक' में सेठ रावजी सखाराम दोशीने इन पद्योंकी संख्या ५८ (अट्ठावन) दी है और निकाले हुए पद्योंके जो क्रमिक नम्बर, समूचे ग्रन्थकी दृष्टिसे, दिये हैं उनसे वह संख्या ५९ हो जाती है!

आवृत्तिमें स्थान नहीं दिया। उन्हें क्षेपक अथवा ग्रन्थसे बाहरकी चीज समझकर एकदम निर्वासित कर दिया है—और आपने ऐसा करनेका कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं दिया। हाँ, टाइटिल और प्रस्तावना द्वारा इतना जरूर सूचित किया है कि, ग्रन्थकी यह द्वितीयावृत्ति पं० पन्नालाल बाकलीवालकृत 'जैनधर्मामृतसार' भाग २ रा नामक पुस्तककी उस प्रथमावृत्तिके अनुकूल है जो नागपुरमें जून सन १८९९ ईसवीको छपी थी। साथ ही, यह भी बतलाया है कि उस पुस्तकमेंसे सिर्फ उन्हीं श्लोकोंको यहाँ छोड़ा गया है जो दूसरे आचार्यके थे, बाकी भगवत्समंतभद्रके १०० श्लोक इस आवृत्तिमें ज्योंके त्यों ग्रहण किये गये हैं। परंतु उस पुस्तकका नाम न तो 'उपासकाध्ययन' है और न 'रत्नकरंड,' न नाग साहबकी इस द्वितीयावृत्तिकी तरह उसके सात भाग हैं और न उसमें समंतभद्रके १०० श्लोक ही पाये जाते हैं; बल्कि वह एक संग्रहपुस्तक है जिसमें प्रधानतः रत्नकरंडश्रावकाचार और पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक ग्रंथोंसे श्रावकाचार विषयका कुछ कथन प्रश्नोत्तर रूपसे संग्रह किया गया है और उसे 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' ऐसा नाम भी दिया है। उसमें यथावश्यकता 'रत्नकरंडश्रावकाचार' से कुल ८६ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। अतः नाग साहबकी यह द्वितीयावृत्ति उसीके अनुकूल है अथवा उसीके आधार पर प्रकाशित की गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मालूम होता है कि उन्होंने इस प्रकारकी बातोंद्वारा * पबलिकके सामने असिल बात पर कुछ

साथ ही, २१, २६, ३२, ४१, ६३, ६७, ६९, ७०, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८३, ८७, ८८, ८९, ९१, ९३, ९४, ९५, ९९, १०१, ११२, और १४८ नम्बरवाले २५ पद्योंको भी निकाले हुए सूचित किया है, जिन्हें वास्तवमें निकाला नहीं गया!! और निकाले हुए २, २८, ३१, ३३, ३४, ३६, ३९, ४०, ४७, ४८, ६६, ८५, ८६, १०४, और १४९ नम्बरवाले १५ पद्योंका उस सूचीमें उल्लेख ही नहीं किया! इस प्रकारके गलत और भ्रामक उल्लेख, निःसन्देह बड़े ही खेदजनक और अनर्थमूलक होते हैं। बम्बई प्रान्तिक सभाने भी शायद इसीपर विश्वास करके अपने २१ वें अधिवेशनके तृतीय प्रस्तावमें ५८ संख्याका गलत उल्लेख किया है। (देखो जनवरी सन् १९२२ का 'जैनबोधक' पत्र।)

* एक दो बातें और भी ऐसी ही हैं जिन्हें लेख बढ़ जानेके भयादिसे यहाँ छोड़ा गया है।

पर्दा डालना चाहा है। और वह असल बात यह है कि, आपकी समझमें यह ग्रन्थ एक 'शतक' ग्रन्थ मालूम होता है और इसलिये आप इसमें १०० श्लोक मूलके और बाकी सब क्षेपक समझते हैं। इसी बातको आपने अपने चैत्र शुक्ल ४ शक संवत् १८४४ के पत्रमें हम पर इस प्रकार प्रकट भी किया था—

"....यह शतक है, और ५० * श्लोक क्षेपक हैं, १०० श्लोक लक्षणके हैं,"

परंतु यह सब आपकी केवल कल्पना ही कल्पना है। आपके पास इसके समर्थनमें कोई भी प्रमाण मालूम नहीं होता, जिसका यहाँ पर ऊहापोह किया जाता। हाँ एक बार प्रथमावृत्तिके अवसर पर, उसकी प्रस्तावनामें, आपने ग्रन्थसे निकाले हुए २८ पद्योंके सम्बंधमें यह प्रकट किया था कि, वे पद्य ग्रंथकी कर्णाटक वगैरह प्रतिमें 'उक्तंच' रूपसे दिये हुए हैं, अतः समंतभद्राचार्यके न होकर दूसरे आचार्यके होनेसे, हमने उन्हें इस पुस्तकमें ग्रहण नहीं किया। प्रस्तावनाके वे शब्द इस प्रकार हैं—

"ह्या पुस्तकाच्या प्रती कर्नाटकांत वगैरे आहेत त्यांत कांहीं 'उक्तंच, म्हणून श्लोक घातलेले आहेत ते श्लोक समंतभद्र आचार्यांचे रचलेले नसून दुसऱ्या आचार्यांचे असल्यामुळें ते आम्हीं ह्या पुस्तकांत घेतले नाहींत।"

परंतु कर्णाटक वगैरहकी वह दूसरी प्रति कौनसी है जिसमें उन २८ पद्योंको 'उक्तं च' रूपसे दिया है, इस बातका कोई पता आप, कुछ विद्वानोंके दर्याफ्त करने पर भी, नहीं बतला सके। और इस लिये आपका उक्त उल्लेख मिथ्या पाया गया। इस प्रकारके मिथ्या उल्लेखोंको करके व्यर्थकी गड़बड़ पैदा करनेमें आपका क्या उद्देश्य अथवा हेतु था, इसे आप ही समझ सकते हैं। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं और न इसे कहनेमें हमें जरा भी संकोच हो सकता है कि, आपकी यह सब कार्रवाई बिलकुल ही अविचारित हुई है और बहुत ही आपत्तिके योग्य है। कुछ पद्योंका क्रम भी आपने बदला है और वह भी आपत्तिके योग्य है। एक माननीय ग्रंथमेंसे, विना किसी प्रवल प्रमाणकी

---

* यद्यपि उक्त द्वितीयावृत्तिमें ५० की जगह ४९ श्लोक ही निकाले गये हैं और १०१ छापे गये हैं परंतु प्रस्तावनामें १०० श्लोकोंके छापनेकी ही सूचना की गई है। इससे संभव है कि अन्तका 'पापमराति' वाला पद्य गलतीसे कम्पोज होकर छप गया हो और, सब पद्योंपर एक क्रमसे नम्बर न होनेके कारण, उसका कुछ खयाल न रहा हो।

उपलब्धिके और बिना इस बातका अच्छी तरहसे निर्णय हुए कि उसमें कोई क्षेपक शामिल हैं या नहीं, अपनी ही कोरी कल्पनाके आधारपर अथवा स्वरुचिमात्रसे कुछ पद्योंको (चाहे उनमें कोई क्षेपक भी भले ही हों) इस तरहपर निकाल डालना एक बहुत ही बड़े दुःसाहस तथा भारी धृष्टताका कार्य है। और इस लिये नागसाहबकी यह सब अनुचित कारंवाई कदापि अभिनंदनके योग्य नहीं हो सकती। आपने उन पद्योंको निकालते समय यह भी नहीं सोचा कि उनमेंसे कितने ही पद्य ऐसे हैं जो आजसे कई शताब्दियों पहलेके बने हुए ग्रंथोंमें स्वामी समंतभद्रके नामसे उल्लेखित पाये जाते हैं, कितने ही 'श्रावकपदानि देवैः' जैसे पद्योंके निकाल डालनेसे दूसरे पद्योंका महत्त्व तथा विषय कम हुआ जाता है; अथवा रत्नरंडकपर संस्कृत तथा कनड़ी आदिकी कितनी ही टीकाएं ऐसी मिलती हैं जिनमें वे सब पद्य मूलरूपसे दिये हुए हैं, और इस लिये मुझे अधिक सावधानीसे काम लेना चाहिये। सचमुच ही नागसाहबने ऐसा करते हुए बड़ी भारी भूलसे काम लिया है। परंतु यह अच्छा हुआ कि अन्तमें आपको भी अपनी भूल मालूम पड़ गई और आपने अपनी इस नासमझीपर खेद प्रकट करते हुए, यह प्रण किया है कि, मैं भविष्यमें ऐसी कमती श्लोकवाली कोई प्रति इस ग्रंथकी प्रकाशित नहीं करूँगा *।

यह सब कुछ होते हुए भी, ग्रंथके कितने ही पद्योंपर अभी तक आपका संदेह बना हुआ है। एक पत्रमें तो आप हमें यहाँतक सूचित करते हैं कि—
'क्षेपककी शंका बहुत लोगोंको है परंतु उसका पक्का आधार नहीं मिलता।"

इस वाक्यसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि नाग साहबने जिन पद्योंको 'क्षेपक' करार दिया है उन्हें क्षेपक करार देनेके लिये आपके अथवा आपके मित्रोंके पास कोई पक्का आधार (प्रमाण) नहीं है और इसलिये आपका यह सब कोरा संदेह ही संदेह है। अस्तु; ग्रंथकी संस्कृतटीकाके साथ इस प्रस्तावनाको पढ़ जानेपर आशा है आपका और आपके मित्रोंका वह संदेह बहुत कुछ दूर हो जायगा। इसी लिये जाँचका यह सब प्रयत्न किया जा रहा है।

रत्नकरंड श्रावकाचारकी एक आवृत्ति दक्षिण महाराष्ट्र जैनसभाके जनरल सेक्रेटरी († प्रोफेसर अण्णा साहब बाबाजी लट्ठे) ने भी मराठी अनुवादादिसहित

---

* देखो 'जैनबोधक' वर्ष ३२ का छठा अंक।

† यह नाम हमें पं० नाना रामचन्द्रजी नागके पत्रसे मालूम हुआ है। साथ ही

प्रकाशित कराई है। प्रकाशक हैं 'भाऊ बाबाजी लट्ठे, कुरुंदवाड।' इस आवृत्तिमें यद्यपि, मूल श्लोक वही १५० दिये हैं जो पाठकोंके सामने उपस्थित इस सटीक प्रतिमें पाये जाते हैं परंतु प्रस्तावनामें इतना जरूर सूचित किया है कि इन श्लोकोंमें कुछ 'असम्बद्ध' श्लोक भी हैं। साथ ही, यह भी बतलाया है कि, कनडी लिपिकी एक प्रतिमें, जो उन्हें रा० देवाप्पा उपाध्यायसे प्राप्त हुई थी, ५० श्लोक अधिक हैं जिनमेंसे उन श्लोकोंको छोड़कर जो स्पष्ट रूपसे 'क्षेपक' मालूम होते थे शेष ७ पद्योंको परिशिष्टके तौरपर दिया गया है। इस सूचनासे दो बातें पाई जाती हैं—एक तो यह कि, कनडी लिपिमें इस ग्रन्थकी ऐसी भी प्रति है जिसमें २०० श्लोक पाये जाते हैं; दूसरी यह कि, लट्ठे साहबको भी इन डेढ़सौ श्लोकोंमेंसे कुछ पर क्षेपक होनेका संदेह है जिन्हें वे असम्बद्ध कहते हैं। यद्यपि आपने ऐसे पद्योंकी कोई सूची नहीं दी और न क्षेपकसम्बंधी कोई विशेष विचार ही उपस्थित किया—बल्कि उस प्रकारके विचारको वहाँ पर 'अप्रस्तुत' कह कर छोड़ दिया है—×तो भी उदाहरणके लिये आपने २७ वें पद्यकी ओर संकेत किया है और उसे असम्बद्ध बतलाया है। वह पद्य इस प्रकार है—

यदि पापनिरोधोन्यसंपदा किं प्रयोजनं।
अथ पापास्रवोस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनं॥

यह पद्य स्थूलदृष्टिसे भले ही कुछ असम्बद्धसा मालूम होता हो परंतु जब इसके गंभीर अर्थपर गहराईके साथ विचार किया जाता है और पूर्वापर पद्योंके अर्थके साथ उसकी शृंखला मिलाई जाती है तो यह असम्बद्ध नहीं रहता। इसके पहले २५ वें पद्यमें मदका अष्टभेदात्मक स्वरूप बतला कर २६ वें पद्यमें उस मदके करनेका दोष दिखलाया गया है और यह जतलाया गया है कि किसी कुल जाति या ऐश्वर्यादिके मदमें आकर धर्मात्माओंको सम्यग्दर्शनादिक युक्त व्यक्तियोंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। इसके बाद विवादस्थ पद्यमेंसे इस बातकी शिक्षा की गई है कि जो लोग कुलैश्वर्यादि सम्पत्तिसे युक्त हैं वे अपनी तत्तद्विषयक मदपरिणतिको दूर करनेके लिये कैसे और किस प्रकारके

यह भी ज्ञात हुआ है कि इस आवृत्तिका अनुवादादि कार्य भी प्रोफेसर साहबका ही किया हुआ है।

× यथा—"मूल पुस्तकांत म्हणून दिलेल्या १५० श्लोकांत देखील कांहीं असंबद्ध दिसतात. उदाहरणार्थ २७ वा श्लोक पहा. परंतु हा विचार या ठिकाणीं अप्रस्तुत आहे."

विचारों द्वारा समर्थ हो सकते हैं। धर्मात्मा वही होता है जिसके पापका निरोध है—अर्थात्, पापास्रव नहीं होता। विपरीत इसके, जो पापास्रवसे युक्त है उसे पापी अथवा अधर्मात्मा समझना चाहिये। इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि जिसके पास पापके निरोधरूप धर्मसंपत्ति अथवा पुण्यविभूति मौजूद है उसके लिये कुलैश्वर्यादिकी सम्पत्ति कोई चीज नहीं–अप्रयोजनीय है–उसके अंतरंगमें उससे भी अधिक तथा विशिष्टतर संपत्तिका सद्भाव है जो कालांतरमें प्रकट होगी और इस लिये वह तिरस्कारका पात्र नहीं। इसी तरह जिसकी आत्मामें पापास्रव बना हुआ है उसके कुलैश्वर्यादि सम्पत्ति किसी कामकी नहीं। वह उस पापास्रवके कारण शीघ्र नष्ट हो जायगी और उसके दुर्गति गमनादिकको रोक नहीं सकेगी। ऐसी संपत्तिको पाकर मद करना मूर्खता है। जो लोग इस संपूर्ण तत्त्वको समझते हैं वे कुलैश्वर्यादिविहित धर्मात्माओंका कदापि तिरस्कार नहीं करते। अगले दो पद्योंमें भी इसी भावको पुष्ट किया गया है–यह समझाया गया है कि, एक मनुष्य जो सम्यग्दर्शनरूपी धर्मसम्पत्तिसे युक्त है वह चाण्डालका पुत्र होने पर भी–कुलादि सम्पत्तिसे अत्यंत गिरा हुआ होने पर भी–तिरस्कारका पात्र नहीं होता। उसे गणधरादिक देवोंने 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है। उसकी दशा उस अंगारके सदृश होती है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होने पर भी अन्तरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता। मनुष्य तो मनुष्य, एक कुत्ता भी धर्मके प्रतापसे–सम्यग्दर्शनादिके माहात्म्यसे–देव बन जाता है और पापके प्रभावसे–मिथ्यात्वादिके कारण–एक देव भी कुत्तेका जन्म ग्रहण करता है। ऐसी हालतमें दूसरी ऐसी कौनसी सम्पत्ति है जो मनुष्योंको अथवा संसारी जीवोंको धर्मके प्रसादसे प्राप्त न हो सकती हो? कोई भी नहीं। और इसलिये कुलैश्वर्यादिविहीन धर्मात्मा लोग कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं होते। यहाँ २९ वें पद्यमें 'अन्या सम्पत्' और २७ वें पद्यमें 'अन्य सम्पदा' पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। इनमें 'अन्या' और 'अन्य' विशेषणोंका प्रयोग उस कुलैश्वर्यादि सम्पत्तिको लक्ष्य करके किया गया है जिसे पाकर मूढ लोग मद करते हैं और जिनके उस मदका उल्लेख २५, २६ नंबरके पद्योंमें किया गया है और इससे इन सब पद्योंका भले प्रकार एक सम्बंध स्थापित होता है। अतः उक्त २७ वाँ पद्य असम्बद्ध नहीं है।

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि सम्यग्दर्शनकी महिमावाले पद्योंमें कितने ही पद्य क्षेपक हैं। उनकी रायमें या तो वे सभी पद्य क्षेपक हैं जो छंद परिवर्तनको लिये हुए—३४ वें पद्यके बाद परिच्छेदके अन्त तक—पाये जाते हैं और नहीं तो वे पद्य क्षेपक जरूर होने चाहिये जिनमें उन्हें पुनरुक्तियाँ मालूम देती हैं। इसमें संदेह नहीं कि ग्रन्थमें ३४ वें पद्यके बाद अनुष्टुपकी जगह आर्या छंद बदला है। परंतु छंदका परिवर्तन किसी पद्यको क्षेपक करार देनेके लिये कोई गारंटी नहीं होता। बहुधा ग्रन्थोंमें इस प्रकारका परिवर्तन पाया जाता है—खुद स्वामी समंतभद्रके 'जिनशतक' और 'बृहत्स्वयंभू स्तोत्र' ही इसके खासे उदाहरण हैं जिनमें किसी किसी तीर्थकरकी स्तुति भिन्न छंदमें ही नहीं किन्तु एकसे अधिक छंदोंमें भी की गई है। इसके सिवाय यहाँ पर जो छंद बदला है वह दो एक अपवादोंको छोड़कर बराबर ग्रन्थके अंत तक चला गया है—ग्रन्थके बाकी सभी परिच्छेदोंकी रचना प्रायः उसी छंदमें हुई है—और इस लिये छंदाधार पर उठी हुई इस शंकामें कुछ भी बल मालूम नहीं होता। हाँ पुनरुक्तियोंकी बात जरूर विचारणीय है यद्यपि केवल पुनरुक्ति भी किसी पद्यको क्षेपक नहीं बनाती तो भी इसे कहनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं होता कि स्वामी समन्तभद्रके प्रबन्धोंमें व्यर्थकी पुनरुक्तियाँ नहीं हो सकतीं। इसी बातकी जाँचके लिये हमने इन पद्योंको कई बार बहुत गौरके साथ पढ़ा है परन्तु हमें उनमें जरा भी पुनरुक्तिका दर्शन नहीं हुआ। प्रत्येक पद्य नये नये भाव और नये नये शब्दविन्यासको लिये हुए हैं। प्रत्येकमें विशेषता पाई जाती है—हर एकका प्रतिपाद्यविषय सम्यग्दर्शनका माहात्म्य अथवा फल होते हुए भी अलग अलग है—और सभी पद्य एक टकसालके—एक ही विद्वान द्वारा रचे हुए—मालूम होते हैं। उनमेंसे किसी एकको अथवा किसीको भी क्षेपक कहनेका साहस नहीं होता। मालूम नहीं उन लोगोंने कहाँसे इनमें पुनरुक्तियोंका अनुभव किया है। शायद उन्होंने यह समझा हो और वे इसी बातको कहें भी कि 'जब ३५ वें पद्यमें यह बतलाया जा चुका है कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्यायोंमें जन्म नहीं लेता, न दुष्कुलोंमें जाता है और न विकलांग, अल्पायु तथा दरिद्री ही होता है तो इससे यह नतीजा सहजही निकल जाता है कि वह मनुष्य और देवपर्यायोंमें जन्म लेता है, पुरुष होता है, अच्छे कुलोंमें जाता है; साथ ही धनादिककी अच्छी अवस्थाको भी पाता है। और इस लिये मनुष्य तथा देव पर्या-

यकी अवस्थाओंके सूचक अगले दो पद्योंके देनेकी जरूरत नहीं रहती। यदि उन्हें दिया भी था तो फिर उनसे अगले दो पद्योंके देनेकी कोई जरूरत न थी। और अन्तका ४१ वाँ पद्य तो बिलकुल ही अनावश्यक जान पड़ता है, वह साफ तौरसे पुनरुक्तियोंको लिये हुए है—उसमें पहले चार पद्योंके ही आशयका संग्रह किया गया है—या तो उन चार पद्योंको ही देना था और या उन्हें न देकर इस एक पद्यको ही दे देना काफी था।'

इस सम्बंधमें हम सिर्फ इतना ही कहना उचित समझते हैं कि अव्वल तो 'जरूरत नहीं रहती' या 'जरूरत नहीं थी' और 'पुनरुक्ति' ये दोनों एक चीज नहीं हैं, दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है और इस लिये जरूरत न होनेको पुनरुक्ति समझ लेना और उसके आधारपर पद्योंको क्षेपक मान लेना भूलसे खाली नहीं है। दूसरे, ३५ वें पद्यसे मनुष्य और देव पर्यायसम्बंधी जो नतीजा निकलता है वह बहुत कुछ सामान्य है और उससे उन विशेष अवस्थाओंका लाजिमी तौरपर बोध नहीं होता जिनका उल्लेख अगले पद्योंमें किया गया है—एक जीव देव पर्यायको प्राप्त होता हुआ भी भवनत्रिकमें (भवनवासी-व्यंतर-ज्योतिषियोंमें) जन्म ले सकता है और स्वर्गमें साधारण देव हो सकता है। उसके लिये यह लाजिमी नहीं होता कि वह स्वर्गमें देवोंका इन्द्र भी हो। इसी तरह मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता हुआ कोई जीव मनुष्योंकी दुष्कुल और दरिद्रतादि दोषोंसे रहित कितनी ही जघन्य तथा मध्यम श्रेणियोंमें जन्म ले सकता है। उसके लिये मनुष्यपर्यायमें जाना ही इस बातका कोई नियामक नहीं है कि वह महाकुल और महा धनादिककी उन संपूर्ण विभूतियोंसे युक्त होता हुआ 'मानवतिलक' भी हो जिनका उल्लेख ३६ वें पद्यमें किया गया है। और यह तो स्पष्ट ही है कि एक मनुष्य महाकुलादिसम्पन्न मानवतिलक होता हुआ भी, नारायण, बलभद्रादि पदोंसे विभूषित होता हुआ भी, चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शनके माहात्म्य तथा कुलको अच्छी तरहसे प्रख्यापित करनेके लिये उन विशेष अवस्थाओंको दिखलानेकी खास जरूरत थी जिनका उल्लेख बादके चार पद्योंमें किया गया है और इस लिये वे पद्य क्षेपक नहीं हैं। हाँ, अन्तका ४१ वाँ पद्य, यदि वह सचमुच ही 'संग्रहवृत्त' है—जैसा कि टीकाकारने भी प्रकट* किया है—कुछ खटकता जरूर है। परंतु हमारी रायमें वह

* यथा—"यत्प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह—"

कोरा संग्रहवृत्त नहीं है। उसमें ग्रंथकार महोदयने एक दूसरा ही भाव रक्खा है जो पहले पद्योंसे उपलब्ध नहीं होता। पहले पद्य अपनी अपनी बातका खंडशः उल्लेख करते हैं। वे इस बातको नहीं बतलाते कि एक ही जीव, सम्यग्दर्शनके महात्म्यसे, उन सभी अवस्थाओंको भी क्रमशः प्राप्त कर सकता है-अर्थात्, देवेन्द्र, चक्रवर्ति और तीर्थंकर पदोंको पाता हुआ मोक्षमें जा सकता है। इसी खास बातको बतलानेके लिये इस पद्यका अवतार हुआ मालूम होता है। और इस लिये यह भी 'क्षेपक' नहीं है।

सल्लेखना अथवा सद्धर्मका फल प्रदर्शिति करनेवाले जो 'निःश्रेयस' आदि छह पद्य हैं उनका भी हाल प्रायः ऐसा ही है। वे भी सब एक ही टाइपके पद्य हैं और पुनरुक्तियोंसे रहित पाये जाते हैं। वहाँ पहले पद्यमें जिन 'निःश्रेयस' और 'अभ्युदय' नामके फलोंका उल्लेख है अगले पद्योंमें उन्हीं दोनोंके स्वरूपादिका स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थात दूसरेमें निःश्रेयसका और छठेमें अभ्युदयका स्वरूप दिया है और शेष पद्योंमें निःश्रेयसको प्राप्त होने वाले पुरुषोंकी दशाका उल्लेख किया है इस लिये उनमें भी कोई क्षेपक नही और न उनमें परस्पर कोई असम्बंद्धता ही पाई जाती है।

इसी तरह पर 'क्षुत्पिपासा' 'परमेष्ठि परंज्योति' और 'अनात्मार्थं विनारागैः' नामके तीनों पद्योंमें भो कोई क्षेपक मालूम नहीं होता। वे आप्तके स्वरूपको विशद करनेके लिये यथावश्यकता और यथास्थान दिये गये हैं। पहले पद्यमें क्षुधा तृषादि दोषोंके अभावकी प्रधानतासे आप्तका स्वरूप बतलाया है और उसके बतलानेकी जरूरत थी; क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अष्टादशदोषसम्बंधी कथनमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर *पाया जाता है। श्वेताम्बर भाई आप्तके क्षुधा-तृषादिकका होना भी मानते हैं जो दिगम्बरोंको इष्ट नहीं है—और ये सब अन्तर उनके प्रायः सिद्धान्तभेदोंपर अवलम्बित हैं। इस पद्यके द्वारा पूर्वपद्यमें आए हुए 'उत्सन्न-

---

* श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा माने हुए अठारह दोषोंके नाम इस प्रकार हैं— १ वीर्यान्तराय, २ भोगान्तराय, ३ उपभोगान्तराय, ४ दानान्तराय, ५ लाभान्तराय, ६ निद्रा, ७ भय, ८ अज्ञान, ९ जुगुप्सा, १० हास्य, ११ रति, १२ अरति, १३ राग, १४ द्वेष, १५ अविरति, १६ काम, १७ शोक, १८ मिथ्यात्व। (देखो विवेकविलास और जैनतत्त्वादर्श।)

दोषेण' पदका बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। दूसरे पद्यमें आप्तके कुछ खास खास नामोंका उल्लेख किया गया है—यह बतलाया गया है कि आप्तको परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, (वीतराग) विमल, कृती, सर्वज्ञ, सार्व तथा शास्ता आदि भी कहते हैं—और नामकी यह परिपाटी दूसरे प्राचीन ग्रंथोंमें भी पाई जाती है जिसका एक उदाहरण श्रीपूज्यपादस्वामीका समाधितंत्र ग्रंथ है, उसमें भी परमात्माकी नामावलीका एक 'निर्मलः केवलः' इत्यादि पद्य दिया है। अस्तु। तीसरे पद्यमें आप्तस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाले इस प्रश्नको हल किया गया है कि जब शास्ता वीतराग है तो वह किस तरहपर और किस उद्देशसे हितोपदेश देता है और क्या उसमें उनकी कोई निजी गर्ज है? इस तरहपर ये तीनों ही पद्य प्रकरणके अनुकूल हैं और ग्रंथके आवश्यक अंग जान पड़ते हैं।

कुछ लोगोंकी दृष्टिमें, भोगोपभोगपरिमाण नामक गुणव्रतके कथनमें आया हुआ, 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' नामका पद्य भी खटकता है। उनका कहना है कि 'इस पद्यमें मद्य, मांस और मधुके त्यागका जो विधान किया गया है। वह विधान उससे पहले अष्टमूल गुणोंके प्रतिपादक 'मद्यमांसमधुत्यागैः' नामके श्लोकमें आ चुका है। जब मूल गुणोंमें ही उनका त्याग आचुका तब उत्तर गुणोंमें, बिना किसी विशेषताका उल्लेख किये, उसको फिरसे दुहरानेकी क्या जरूरत थी? इस लिये यह पद्य पुनरुक्त दोषसे युक्त होनेके साथ साथ अनावश्यक भी जान पड़ता है। यदि मांसादिकके त्यागका हेतु बतलानेके लिये इस पद्यके देनेकी जरूरत ही थी तो इसे उक्त 'मद्यमांसमधुत्यागैः' नामक पद्यके साथ ही—उससे ठीक पहले या पीछे देना चाहिये था। वही स्थान इसके लिये उपयुक्त था और तब इसमें पुनरुक्त आदि दोषोंकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी।'

ऊपरके इस कथनसे यह तो स्पष्ट है कि यह पद्य मद्यादिकके त्याग विषयक हेतुओंका उल्लेख करनेकी वजहसे कथनकी कुछ विशेषताको लिये हुए जरूर है और इसलिये इसे पुनरुक्त या अनावश्यक नहीं कह सकते। अब देखना सिर्फ इतना ही है कि इस पद्यको अष्ट मूलगुणवाले पद्यके साथ न देकर यहाँ क्यों दिया गया है। हमारी रायमें इसे यहाँ पर देनेका मुख्य हेतु यह मालूम होता है कि ग्रंथमें, इससे पहले, जो भोगोपभोगपरिमाण व्रतका तथा 'भोग' का स्वरूप दिया गया है उससे यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि क्या मद्यादिक भोग पदार्थोंका भी इस व्रतवालेको परिमाण करना चाहिये? उत्तरमें आचार्य महोदयने इस पद्यके द्वारा, यही

सूचित किया है कि 'नहीं, इन चीजोंका उसके परिमाण नहीं होता, ये तो उसके लिये बिलकुल वर्जनीय हैं। साथ ही, यह भी बतला दिया है कि क्यों वर्जनीय अथवा त्याज्य हैं। यदि यह पद्य यहाँ न दिया जाकर अष्टमूलगुण-वाले पद्यके साथ ही दिया जाता तो यहाँ पर इससे मिलते जुलते आशयके किसी दूसरे पद्यको देना पड़ता और इस तरह पर ग्रंथमें एक बातकी पुनरुक्ति अथवा एक पद्यकी व्यर्थकी वृद्धि होती। यहाँ इस पद्यके देनेसे दोनों काम निकल जाते है–पूर्वोद्दिष्ट मद्यादिके त्यागका हेतु भी मालूम हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस व्रतवालेके मद्यादिकका परिमाण नहीं होता, बल्कि उनका सर्वथा त्याग होता है। ऐसी हालतमें यह पद्य संदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य मालूम नहीं होता।

कुछ लोग उक्त अष्टमूलगुणवाले पद्यको ही क्षेपक समझते हैं परंतु इसके समर्थ-नमें उनके पास कोई हेतु या प्रमाण नहीं है। शायद उनका यह खयाल हो कि इस पद्यमें पंचाणुव्रतोंको जो मूल गुणोंमें शामिल किया है वह दूसरे ग्रन्थोंके विरुद्ध है जिसमें अणुव्रतोंकी जगह पंच उदुम्बर फलोंके त्यागका विधान पाया जाता है और इतने परसे ही वे लोग इस पद्यको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगे हों। यदि ऐसा है तो यह उनकी निरी भूल है। देशकालकी परिस्थितिके अनुसार आचार्योंका मतभेद परस्पर होता आया है ×। उसकी वजहसे कोई पद्य क्षेपक करार नहीं दिया जा सकता। भगवज्जिनसेन आदि और भी कई आचार्योंने अणुव्रतोंको मूल गुणोंमें शामिल किया है। पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृत और उसकी टीकामें समंतभद्रादिके इस मतभेदका उल्लेख भी किया है। वास्तवमें सकलव्रती मुनियोंके मूलगुणोंमें जिस प्रकार पंच महाव्रतोंका होना जरूरी है उसी प्रकार देशव्रती श्रावकोंके मूलगुणोंमें पंचाणुव्रतोंका होना भी जरूरी मालूम होता है। देशव्रती श्रावकोंको लक्ष्य करके ही आचार्य महोदयने इन मूल गुणोंकी सृष्टि की है। पंच उदुम्बरवाले मूलगुण प्रायः बालकोंको—अव्रतियों अथवा अनभ्यस्त देशसंयमियोंको—लक्ष्य करके लिखे गये हैं; जैसा कि शिवकोटि आचार्यके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

× इसके लिये देखो 'जैनाचार्योंका शासनभेद,' नामके हमारे लेख, जो जैन-हितैषीके १४ वें भागमें प्रकाशित हुए हैं।

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणः पंचोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥

—रत्नमाला ।

ऐसी हालतमें यह पद्य भी संदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य नहीं। यह अणुव्रतोंके बाद अपने उचित स्थान पर दिया गया है। इसके न रहनेसे, अथवा यों कहिये कि श्रावकाचारविषयक ग्रन्थमें श्रावकोंके मूल गुणोंका उल्लेख न होनेसे, ग्रंथमें एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती जिसकी स्वामी समन्तभद्र जैसे अनुभवी ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी। इस लिये यह पद्य भी क्षेपक नहीं हो सकता।

संदिग्ध पद्य।

ग्रंथमें प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रतका कथन करनेवाले दो पद्य इस प्रकारसे पाये जाते हैं—

(१) पर्वण्यष्टम्यांच ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥

(२) चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारंभमाचरति ॥

इनमें पहले पद्यसे प्रोषधोपवास व्रतका कथन प्रारंभ होता है और उसमें यह बतलाया गया है कि 'पर्वणी (चतुर्दशी) तथा अष्टमीके दिनोंमें सदेच्छा अथवा सदिच्छासे, जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है उसे प्रोषधोपवास समझना चाहिये'। यह प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण हुआ। टीकामें भी निम्न वाक्यके द्वारा इसे लक्षण ही सूचित किया है—

'अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणाः प्राह'—

इस पद्यके बाद दो पद्यमें उपवास-दिनके विशेष कर्तव्योंका निर्देश करके व्रतातीचारोंसे पहले, वह दूसरा पद्य दिया है जो ऊपर नंबर २ पर उद्धृत है। इस पद्यमें भी प्रोषधोपवासका लक्षण बतलाया गया है। और उसमें वही चार प्रकारके आहार त्यागकी पुनरावृत्ति की गई है। मालूम नहीं, यहाँपर यह पद्य किस उद्देशसे रक्खा गया है। कथनक्रमको देखते हुए, इस पद्यकी स्थिति कुछ संदिग्ध जरूर मालूम होती है। टीकाकार भी उसकी इस स्थितिको स्पष्ट नहीं कर सके। उन्होंने इस पद्यको देते हुए सिर्फ इतना ही लिखा है कि—

' अधुना प्रोषधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह । '

अर्थात्—अब प्रोषधोपवासका लक्षण करते हुए कहते हैं । परंतु प्रोषधोपवासका लक्षण तो दो ही पद्य पहले किया और कहा जा चुका है, अब फिरसे उसका लक्षण करने तथा कहनेकी क्या जरूरत पैदा हुई, इसका कुछ भी स्पष्टीकरण अथवा समाधान टीकामें नहीं है । अस्तु; यदि यह कहा जाय कि इस पद्यमें 'प्रोषध' और 'उपवास'का अलग अलग स्वरूप दिया है—चार प्रकारके आहारत्यागको उपवास और एक बार भोजन करनेको 'प्रोषध' ठहराया है—और इस तरह पर यह सूचित किया है कि प्रोषधपूर्वक—पहले दिन एकबार भोजन करके—जो अगले दिन उपवास किया जाता है—चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है—उसे प्रोषधोपवास कहते हैं, तो इसके सम्बंधमें सिर्फ इतना ही निवेदन है कि प्रथम तो पद्यके पूर्वार्धमें भले ही उपवास और प्रोषधका अलग अलग स्वरूप दिया हो परंतु उसके उत्तरार्धसे यह ध्वनि नहीं निकलती कि उसमें प्रोषधपूर्वक उपवासका नाम प्रोषधोपवास बतलाया गया है। उसके शब्दोंसे सिर्फ इतना ही अर्थ निकलता है कि उपोषण (उपवास) पूर्वक जो आरंभाचरण किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं—बाकी धारणक और पारणकके दिनोंमें एकभुक्तिकी जो कल्पना टीकाकारने की है वह सब उसकी अतिरिक्त कल्पना मालूम होती है । इस लक्षणसे साधारण उपवास भी प्रोषधोपवास हो जाते हैं; और ऐसी हालतमें इस पद्यकी स्थिति और भी ज्यादा गड़बड़में पड़ जाती है । दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि, प्रोषधपूर्वक उपवासका नाम ही प्रोषधोपवास है और वही इस पद्यके द्वारा अभिहित है तो वह स्वामी समंतभद्रके उस पूर्वकथनके विरुद्ध पड़ता है जिसके द्वारा पर्वदिनोंमें उपवासका नाम प्रोषधोपवास सूचित किया गया है और इस तरह पर प्रोषधोपवासकी 'प्रोषधे पर्वदिने उपवास प्रोषधोपवासः' यह निरुक्ति की गई है । प्रोषध शब्द 'पर्वपर्यायवाची' है और प्रोषधोपवासका अर्थ 'प्रोषधे उपवासः' है, यह बात श्रीपूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द, सोमदेव, आदि सभी प्रसिद्ध विद्वानोंके ग्रंथोंसे पाई जाती है जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

"प्रोषध शब्दः पर्वपर्यायवाची । शब्दादिग्रहणं प्रतिनिवृत्तौत्सुक्यानि पंचापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन्वसंतीत्युपवासः । चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः । प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः ।" —सर्वार्थसिद्धिः ।

"प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची, प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः।" इत्यादि
—तत्त्वार्थराजवार्तिक।

"प्रोषधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवासः।" —श्लोकवार्तिक।

"पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च" इत्यादि—यशस्तिलक।

"प्रोषधः पर्वपर्यायवाची। पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः"।
—चारित्रसार।

"इह प्रोषधशब्दः रूढया पर्वसु वर्तते। पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः पूरणात्पर्वधर्मोपचयहेतुत्वादिति"— —श्रा० प्र० टीकायां हरिभद्रः।

बहुत कुछ छानबीन करनेपर भी दूसरा ऐसा कोई भी ग्रंथ हमारे देखनेमें नहीं आया जिसमें प्रोषधका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' और प्रोषधोपवासका अर्थ 'सुकृद्भुक्तिपूर्वक उपवास' किया गया हो। प्रोषधका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' नहीं है, यह बात खुद स्वामी समंतभद्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट होती ह जो इसी ग्रंथमें बादको 'प्रोषधोपवास' प्रतिमाका स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये दिया गया है—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः॥

इससे 'चतुराहारविसर्जन' नामका उक्त पद्य स्वामी समंतभद्रके उत्तर कथनके भी विरुद्ध है, यह स्पष्ट हो जाता है। ऐसी हालतमें—ग्रंथके पूर्वोत्तर कथनोंसे भी विरुद्ध पड़नेके कारण—इस पद्यको स्वामी समंतभद्रका स्वीकार करनेमें बहुत अधिक संकोच होता है। आश्चर्य नहीं जो यह पद्य इस टीकासे पहले ही, किसी तरहपर, ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो गया हो और टीकाकारको उसका खयाल भी न हो सका हो।

अब हम उन पद्योंपर विचार करते हैं जो अधिकांश लोगोंकी शंकाका विषय बने हुए हैं। वे पद्य दृष्टांतोंवाले पद्य हैं और उनकी संख्या ग्रंथमें छह पाई जाती है। इनमेंसे 'तावदंजन' और 'ततो जिनेंद्रभक्त' नामके पहले दो पद्योंमें सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि अष्ट अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवाले आठ व्यक्तियोंके नाम दिये हैं। 'मातंगो धनदेवश्च' नामके तीसरे पद्यमें पांच व्यक्तियोंके नाम देकर यह सूचित किया है कि इन्होंने उत्तम पूजातिशयको प्राप्त किया है। परंतु किस विषयमें? इसका उत्तर पूर्व पद्यसे सम्बंध मिलाकर यह दिया जा सकता है कि अहिंसादि पंचाणुव्रतोंके पालनके विषयमें।

इसके बाद ही 'धनश्री' नामक पद्यमें पाँच नाम और देकर लिखा है कि उन्हें भी क्रमशः उसी प्रकार उपाख्यानका विषय बनाना चाहिये। परंतु इनके उपाख्यानका क्या विषय होना चाहिये अथवा ये किस विषयके दृष्टांत हैं, यह कुछ सूचित नहीं किया और न पूर्व पद्योंसे ही इसका कोई अच्छा निष्कर्ष निकलता है। पहले पद्यके साथ सम्बंध मिलानेसे तो यह नतीजा निकलता है कि ये पांचों दृष्टांत भी अहिंसादिक व्रतोंके हैं और इस लिये इनके भी पूजातिशयको दिखलाना चाहिये। हाँ टीकाकारने यह जरूर सूचित किया है कि ये क्रमशः हिंसादिकसे युक्त व्यक्तियोंके दृष्टांत हैं। 'श्रीषेण' नामके पाँचवें पद्यमें चार नाम देकर यह सूचित किया है कि ये चतुर्भेदात्मक वैयावृत्यके दृष्टांत हैं। और 'अर्हच्चरणसपर्या' नामक छठे पद्यमें लिखा है कि राजगृहमें एक प्रमोदमत्त (विशिष्ट धर्मानुरागसे मस्त) मेंडकने एक फूलके द्वारा अंर्हतके चरणोंकी पूजाके माहात्म्यको महात्माओंपर प्रकट किया था।

इन पद्योंपर जो आपत्तियाँ की जाती हैं अथवा की जा सकती हैं उनका सार इस प्रकार है—

(१) ग्रंथके संदर्भ और उसकी कथनशैलीपरसे यह स्पष्ट है कि ग्रंथमें श्रावक धर्मका प्रतिपादन औपदेशिक ढंगसे नहीं किन्तु विधिवाक्योंके तौरपर अथवा आदेशरूपसे किया गया है। ऐसी हालतमें किसी दृष्टांत या उपाख्यानका उल्लेख करने अथवा ऐसे पद्योंके देनेकी कोई जरूरत नहीं होती और इस लिये ग्रंथमें ये पद्य निरे अनावश्यक तथा बेमेल मालूम होते हैं। इनकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयसम्बंधादिकमें किसी प्रकारकी बाधा भी नहीं आती।

(२) शास्त्रोंमें एक ही विषयके अनेक दृष्टांत अथवा उपाख्यान पाये जाते हैं; जैसे अहिंसाव्रतमें 'मृगसेन' धीवरका, असत्यभाषणमें राजा 'वसु'का, अब्रह्मसेवनमें 'कडार पिंग'का और परिग्रह विषयमें 'पिण्याक गंध'का उदाहरण सुप्रसिद्ध है। भगवती आराधना और यशस्तिलकादि ग्रथोंमें इन्हींका उल्लेख किया गया है। एक ही व्यक्तिकी कथासे कई कई विषयोंके उदाहरण भी निकलते हैं—जैसे वारिषेणकी कथासे स्थितीकरण अंग तथा अचौर्यव्रतका और अनंतमतीकी कथासे ब्रह्मचर्यव्रत तथा निःकांक्षित अंगका। इसी तरहपर कुछ ऐसी भी कथाएँ उपलब्ध हैं जिनके दृष्टांतोंका प्रयोग विभिन्नरूपसे पाया जाता है। इसी ग्रंथमें सत्यघोषकी जिस कथाको असत्य भाषणका दृष्टान्त बनाया गया है 'भगवती आराधना' और 'यशस्तिलक'में उसीको चोरीके सम्बंधमें प्रयुक्त किया गया

है। इसी तरह विष्णुकुमारकी कथाको कहीं कहीं 'वात्सल्य' अंगमें न देकर 'प्रभावनांग'में दिया गया है †। कथासाहित्यकी ऐसी हालत होते हुए और एक नामके अनेक व्यक्ति होते हुए भी स्वामी समंतभद्र जैसे सतर्क विद्वानोंसे, जो अपने प्रत्येक शब्दको बहुत कुछ जाँच तोलकर लिखते हैं, यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उन दृष्टांतोंके यथेष्ट मार्मिक अंशका उल्लेख किये विना ही उन्हें केवल उनके नामोंसे ही उद्धृत करनेमें संतोष मानते, और जो दृष्टांत सर्वमान्य नहीं उसे भी प्रयुक्त करते, अथवा विना प्रयोजन ही किसी खास दृष्टांतको दूसरोंपर महत्त्व देते।

(३) यदि ग्रंथकार महोदयको, अपने ग्रंथमें, दृष्टांतोंका उल्लेख करना ही इष्ट होता तो वे प्रत्येक व्यक्तिके कार्यकी गुरुता और उसके फलके महत्त्वको कुछ जँचे तुले शब्दोंमें जरूर दिखलाते। साथ ही, उन दूसरे विषयोंके उदाहरणोंका भी, उसी प्रकारसे, उल्लेख करते जो ग्रंथमें अनुदाहृत स्थितिमें पाये जाते हैं—अर्थात्, जब अहिंसादिक व्रतोंके साथ उनके प्रतिपक्षी हिंसादिक पापोंके भी उदाहरण दिये गये हैं तो सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि अष्ट अंगोंके साथ उनके प्रतिपक्षी शंकादिक दोषोंके भी उदाहरण देने चाहियें थे। इसी प्रकार तीन मूढ़ताओंको धरनेवाले न धरनेवाले, मद्य-मांस-मधु आदिका सेवन करनेवाले न करनेवाले, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके पालनमें तत्पर-अतत्पर, 'उच्चैर्गोत्रं प्रणतेः' नामक पद्यमें जिन फलोंका उल्लेख है उनको पानेवाले, सल्लेखनाकी शरणमें जानेवाले और न जानेवाले इन सभी व्यक्तियोंका अलग अलग दृष्टांत रूपसे उल्लेख करना चाहिये था। परंतु यह सब कुछ भी नहीं किया गया और न उक्त छहों पद्योंकी उपस्थितिमें इस न करनेकी कोई माकूल (समुचित) वजह ही मालूम होती है। ऐसी हालतमें उक्त पद्योंकी स्थिति और भी ज्यादा संदेहास्पद हो जाती है।

(४) 'धनश्री' नामका पद्य जिस स्थितिमें पाया जाता है इससे उसके उपाख्यानोंका विषय अच्छी तरहसे प्रतिभासित नहीं होता। स्वामी समंतभद्रकी रचनामें इस प्रकारका अधूरापन नहीं हो सकता।

(५) ब्रह्मचर्याणुव्रतके उदाहरणमें 'नीली' नामकी एक स्त्रीका जो दृष्टांत दिया गया है वह ग्रंथके संदर्भसे—उसकी रचनासे—मिलता हुआ मालूम नहीं

† देखो, 'अरुंगल छेप्पु' नामक तामिल भाषाका ग्रंथ, जो अंग्रजी जैनगजटमें, अनुवादसहित, मुद्रित हुआ है।

होता। स्वामी समंतभद्रद्वारा यदि उस पद्यकी रचना हुई होती तो वे, अपने ग्रंथकी पूर्व रचनाके अनुसार, वहाँपर किसी पुरुष व्यक्तिका ही उदाहरण देते —स्त्रीका नहीं; क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्याणुव्रतका जो स्वरूप ' न तु परदारान् गच्छति ' नामके पद्यमें ' परदारनिवृत्ति ' और ' स्वदारसंतोष ' नामोंके साथ दिया है वह पुरुषोंको प्रधान करके ही लिखा गया है। दृष्टान्त भी उसके अनुरूप ही होना चाहिये था।

(६) परिग्रह परिमाणव्रतमें ' जय ' का दृष्टांत दिया गया है। टीकामें ' जय 'को कुरुवंशी राजा 'सोमप्रभ'का पुत्र और सुलोचनाका पति सूचित किया है। परन्तु इस राजा 'जय' (जयकुमार) की जो कथा भगवज्जिनसेनके ' आदिपुराण'में पाई जाती है उससे वह परिग्रहपरिमाण व्रतका धारक न होकर *'परदारनिवृत्ति' नामके शीलव्रतका—ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारक मालूम* होता है और उसी व्रतकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर उसे देवता द्वारा पूजातिशयकी प्राप्ति हुई थी। टीकाकार महाशय भी इस सत्यको छिपा नहीं सके और न प्रयत्न करने पर भी इस कथाको पूरी तौरसे परिग्रहपरिमाणनामके अणुव्रतकी बना सके हैं। उन्होंने शायद मूलके अनुरोधसे यह लिख तो दिया कि 'जय' परिमितपरिग्रही था और स्वर्गमें इन्द्रने भी उसके इस परिग्रहपरिमाणव्रतकी प्रशंसा की थी परंतु कथामें वे अन्ततक उसका निर्वाह पूरी तौरसे नहीं कर सके। उन्होंने एक देवताको स्त्रीके रूपमें भेजकर जो परीक्षा कराई है उससे वह जयके शीलव्रतकी ही परीक्षा हो गई है। आदिपुराणमें, इस प्रसंगपर साफ तौरसे जयके शीलमाहात्म्यका ही उल्लेख किया है, जिसके कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

अमरेन्द्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसनं।
जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकुर्वति कदाचन ॥ २६० ॥
श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः।
श्रीशो रविप्रभाख्येन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥ २६१ ॥
प्रेषिता कांचना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः।

....

स्वानुरागं जये व्यक्तमकरोद्विकृतेक्षणा।
तद्दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्था पापमीदृशं ॥ २६७ ॥
सोदर्या त्वं ममादायि मया मुनिवराद्व्रतं।
परांगनांगसंसर्गसुखं मे विषभक्षणं ॥ २६८ ॥

....

आबिभ्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के ।
ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिनं प्रति ॥ २७१ ॥
प्राशंसत्सा तयोस्ताद्दङ्माहात्म्यं सोऽपि विस्मयात् ।
रविप्रभः समागत्य तावुभौ तद्गुणप्रियः ॥ २७२ ॥
स्ववृत्तान्तं समाख्याय युवाभ्यां क्षम्यतामिति ।
पूजयित्वा महारत्नैर्नाकलोकं समीयिवान् ॥ २७३ ॥

—पर्व ४७ वाँ ।

श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत हरिवंशपुराणमें भी, निम्नलिखित दो पद्यों द्वारा 'जय'के शीलमहात्म्यको ही सूचित किया है—

" शक्रप्रशंसनादेत्य रतिप्रभसुरेण सः ।
परीक्ष्य स्वस्त्रिया मेरावन्यदा पूजितो जयः ॥ १३० ॥
सर्वासामेव शुद्धीनां शीलशुद्धिः प्रशस्यते ।
शीलशुद्धिर्विशुद्धानां किंकरास्त्रिदशा नृणाम् ॥ ३१ ॥

—सर्ग १२ वाँ ।

इस तरह पर जयका उक्त दृष्टांतरूपसे उल्लेख उसके प्रसिद्ध आख्यानके विरुद्ध पाया जाता है और इससे भी पद्यकी स्थिति संदिग्ध हो जाती है ।

(७) इन पद्योंमें दिये हुए दृष्टांतोंको टीकामें जिस प्रकारसे उदाहृत किया हैं, यदि सचमुच ही उनका वही रूप है और वही उनसे अभिप्रेत है तो उससे इन दृष्टांतोंमें ऐसा कोई विशेष महत्त्व भी मालूम नहीं होता, जिसके लिये स्वामी समंतभद्र जैसे महान् आचार्योंको उनके नामोल्लेखका प्रयत्न करनेकी जरूरत पड़ती । वे प्रकृत विषयको पुष्ट बनाने अथवा उसका प्रभाव हृदयपर स्थापित करनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं । कितने ही दृष्टांत तो इनसे भी अधिक महत्त्वके, हिंसाअहिंसादिके विषयमें, प्रतिदिन देखने तथा सुननेमें आते हैं ।

इन्हीं सब कारणोंसे उक्त छहों पद्योंको स्वामी समंतभद्रके पद्य स्वीकार करनेसे इनकार किया जाता है और कहा जाता है कि वे 'क्षेपक' हैं ।

हमारी रायमें, इन आपत्तियोंमेंसे सबसे पिछली आपत्ति तो ऐसी है जिसमें कुछ भी बल मालूम नहीं होता; क्योंकि उसकी कल्पनाका आधार एक मात्र टीका है । यह बिलकुल ठीक है; और इसमें कोई संदेह नहीं कि टीकाकारने इन

दृष्टान्तोंकी जो कथाएँ दी हैं वे बहुत ही साधारण तथा श्रीहीन हैं, और कहीं कहीं पर तो अप्राकृतिक भी जान पड़ती हैं। उनमें भावोंका चित्रण बिलकुल नहीं, और इस लिये वे प्रायः निष्प्राण मालूम होती हैं। टीकाकारने, उन्हें देते हुए, इस बातका कुछ भी ध्यान रक्खा मालूम नहीं होता कि जिस व्रत, अव्रत अथवा गुण-दोषादिके विषयमें ये दृष्टान्त दिये गये हैं उनका वह स्वरूप उस कथाके पात्रमें परिस्फुट (अच्छी तरहसे व्यक्त) कर दिया गया या नहीं जो इस ग्रंथ अथवा दूसरे प्रधान ग्रंथोंमें पाया जाता है, और उसके फलप्रदर्शनमें भी किसी असाधारण विशेषताका उल्लेख किया गया अथवा नहीं। अनंतमतीकी कथामें एक जगह भी 'निःकांक्षित' अंगके स्वरूपको और उसके विषयमें अनंतमतीकी भावनाको व्यक्त नहीं किया गया; प्रत्युत इसके अनंतमतीके ब्रह्मचर्य व्रतके माहात्म्यका ही यत्र तत्र कीर्तन किया गया है; 'प्रभावना' अंगकी लम्बी कथामें 'प्रभावना' के स्वरूपको प्रदर्शित करना तो दूर रहा, यह भी नहीं बतलाया गया कि वज्रकुमारने कैसे रथ चलवाया—क्या अतिशय दिखलाया और उसके द्वारा क्योंकर और क्या प्रभावना जैनशासनकी हुई; धनदेवकी कथामें इस बातको बतलानेकी शायद जरूरत ही नहीं समझी गई कि धनदेवकी सत्यताको राजाने कैसे प्रमाणित किया, और बिना उसको सूचित किये वैसे ही राजासे उसके हक़में फैसला दिला दिया गया! असत्यभाषणका दोष दिखलानेके लिये जो सत्यघोषकी कथा दी गई है उसमें उसे चोरीका ही अपराधी ठहराया है, जिससे यह दृष्टांत, असत्यभाषणका न रहकर दूसरे ग्रंथोंकी तरह चोरीका ही बन गया है। और इस तरहपर इन सभी कथाओंमें इतनी अधिक त्रुटियाँ पाई जाती हैं कि उनपर एक खासा विस्तृत निबंध लिखा जा सकता है। परंतु टीकाकार महाशय यदि इन दृष्टांतोंको अच्छी तरहसे खिला नहीं सके, उनके मार्मिक अंशोंका उल्लेख नहीं कर सके और न त्रुटियोंको दूर करके उनकी कथाओंको प्रभावशालिनी ही बना सके हैं, तो यह सब उनका अपना दोष है। उसकी वजहसे मूल ग्रंथपर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। और न मूल आख्यान वैसे कुछ निःसार अथवा महत्त्वशून्य ही हो सकते जैसा कि टीकामें उन्हें बता दिया गया है। इसीसे हमारा यह कहना है कि इस ७ वीं आपत्तिमें कुछ भी बल नहीं है।

छठी आपत्तिके सम्बंधमें यह कहा जा सकता है कि पद्यमें जिस 'जय' का उल्लेख है वह सुलोचनाके पतिसे भिन्न कोई दूसरा ही व्यक्ति होगा अथवा दूसरे

किसी प्राचीन पुराणमें जयको, परदारनिवृत्ति व्रतकी जगह अथवा उसके अति-रिक्त, परिग्रहपरिमाणव्रतका व्रती लिखा होगा। परंतु पहली अवस्थामें इतना जरूर मानना होगा कि वह व्यक्ति टीकाकारके समयमें भी इतना अप्रसिद्ध था कि टीकाकारको उसका बोध नहीं हो सका और इस लिये उसने सुलोचनाके पति ' जय ' को ही जैसे तैसे उदाहृत किया है। दूसरी हालतमें, उदाहृत कथा परसे, टीकाकारका उस दूसरे पुराणग्रंथसे परिचित होना संदिग्ध जरूर मालूम होता है। चौथी आपत्तिके सम्बंधमें यह कल्पना की जा सकती है कि ' धनश्री ' नामका पद्य कुछ अशुद्ध हो गया है। उसका ' यथा क्रमं ' पाठ जरा खटकता भी है। यदि ऐसे पद्योंमें इस आशयके किसी पाठके देनेकी जरूरत होती तो वह ' मातंगो ' तथा ' श्रीषेण ' नामके पद्योंमें भी जरूर दिया जाता; क्योंकि उनमें भी पूर्वकथित विषयोंके क्रमानुसार दृष्टांतोंका उल्लेख किया गया है। परंतु ऐसा नहीं है; इस लिये यह पाठ यहाँपर अनावश्यक मालूम होता है। इस पाठकी जगह यदि उसीकी जोड़का दूसरा ' ऽन्यथासमं ' पाठ बना दिया जाय तो झगड़ा बहुत कुछ मिट जाता है और तब इस पद्यका यह स्पष्ट आशय हो जाता है कि, पहले पद्यमें मातंगादिकके जो दृष्टांत दिये गये हैं उनके साथ ही (समं) इन ' धनश्री ' आदिके दृष्टांतोंको भी विपरीत रूपसे (अन्यथा) उदाहृत करना चाहिये—अर्थात्, वे अहिंसादिव्रतोंके दृष्टांत हैं तो इन्हें हिंसादिक पापोंके दृष्टान्त समझना चाहिये और वहाँ पूजातिशयको दिखाना है तो यहाँ तिरस्कार और दुःखके अतिशयको दिखलाना होगा। इस प्रकारके पाठभेदका हो जाना कोई कठिन बात भी नहीं है। भंडारोंमें ग्रंथोंकी हालतको देखते हुए, वह बहुत कुछ साधारण जान पड़ती है। परंतु तब इस पाठभेदके सम्बंधमें यह मानना होगा कि वह टीकासे पहले हो चुका है और टीकाकारको दूसरे शुद्ध पाठकी उपलब्धि नहीं हुई। यही वजह है कि उसने 'यथाक्रमं ' पाठ ही रक्खा है और पद्यके विषयको स्पष्ट करनेके लिये उसे टीकामें ' हिंसादिविरत्यभावे ' पद की वैसे ही ऊपरसे कल्पना करनी पड़ी है।

शेष आपत्तियोंके सम्बंधमें, बहुत कुछ विचार करने पर भी, हम अभीतक ऐसा कोई समाधानकारक उत्तर निश्चित नहीं कर सके हैं जिससे इन पद्योंको †

---

† यद्यपि छठे पद्यका रंगढंग दूसरे पद्योंसे कुछ भिन्न है और उसे ग्रंथका अंग माननेको जी भी कुछ चाहता है परंतु पहली आपत्ति उसमें खास तौरसे बाधा डालती है और यह स्वीकार करने नहीं देती कि वह भी ग्रंथका कोई अंग है।

ग्रंथका एक अंग स्वीकार करनेमें सहायता मिल सके । इन आपत्तियोंमें बहुत कुछ तथ्य पाया जाता है; और इस लिये इनका पूरी तौरसे समाधान हुए बिना उक्त छहों पद्योंको ग्रंथका अंग नहीं कहा जा सकता—उन्हें स्वामी समंतभद्रकी रचना स्वीकार करनेमें बहुत बड़ा संकोच होता है। आश्चर्य नहीं जो ये पद्य भी टीकासे पहले ही ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो गये हों और साधारण दृष्टिसे देखने अथवा परीक्षादृष्टिसे न देखनेके कारण वे टीकाकारको लक्षित न हो सके हों । यह भी संभव है कि इन्हें किसी दूसरे संस्कृत टीकाकारने रचा हो, और कथाओंसे पहले उनकी सूचनाके लिये, अपनी टीकामें दिया हो और बादको उस टीका परसे मूलग्रंथकी नकल उतारते समय असावधान लेखकोंकी कृपासे वे मूलका ही अंग बना दिये गये हों । परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि ये पद्य संदिग्ध जरूर हैं और इन्हें सहसा मूल ग्रंथका अंग अथवा स्वामी समंतभद्रकी रचना नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ तककी इस संपूर्ण जाँचमें जिन पद्योंकी चर्चा की गई है, हम समझते हैं, उनसे भिन्न ग्रंथमें दूसरे ऐसे कोई भी पद्य मालूम नहीं होते जो खास तौरसे संदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हों अथवा जिनपर किसीने अपना युक्तिपुरस्सर संदेह प्रकट किया हो और इसलिये जिनकी जाँचकी इस समय जरूरत हो । अस्तु ।

यह तो हुई ग्रंथकी उन प्रतियोंके पद्योंकी जाँच जो इस सटीक प्रतिकी तरह डेढ़ सौ श्लोक संख्याको लिये हुए है, अब दूसरी उन प्रतियोंको भी लीजिये जिनमें ग्रंथकी श्लोकसंख्या कुछ न्यूनाधिकरूपसे पाई जाती है ।

अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ ।

ग्रंथकी हस्तलिखित प्रतियोंमें, यद्यपि, ऐसी कोई भी उल्लेख-योग्य प्रति अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आई जिसमें श्लोकोंकी संख्या डेढ़सौसे कम हो; परंतु आराके 'जैनसिद्धान्तभवन'में ग्रंथकी ऐसी कितनी ही पुरानी प्रतियाँ ताड़पत्रोंपर जरूर मौजूद हैं जिनमें श्लोक-संख्या, परस्पर कमती बढ़ती होते हुए भी, डेढ़सौसे अधिक पाई जाती है । इन प्रतियोंमेंसे दो मूल प्रतियोंको जाँचने और साथ ही दो कनड़ी टीकावाली प्रतियोंपरसे उन्हें मिलानेका हमें अवसर मिला है, और उस जाँचसे कितनी ही ऐसी बातें मालूम हुई हैं जिन्हें ग्रंथके पद्योंकी जाँचके इस अवसर पर प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है—बिना उनके

प्रकट किये यह जाँच अधूरी ही रहेगी। अतः पाठकोंकी अनुभववृद्धिके लिये यहाँ उस जाँचका कुछ सार दिया जाता है—

(१) भवनकी मुद्रित सूचीमें रत्नकरंडश्रावकाचारकी जिस प्रतिका नंबर ६३६ दिया है वह मूल प्रति है और उसमें ग्रंथके पद्योंकी संख्या १९० दी है—अर्थात्, ग्रंथकी इस सटीक प्रतिसे अथवा डेढ़सौ श्लोकोंवाली अन्यान्य मुद्रित अमुद्रित प्रतियोंसे उसमें ४० पद्य अधिक पाये जाते हैं। वे चालीस पद्य, अपने अपने स्थानकी सूचनाके साथ, इस प्रकार हैं—

'नाङ्गहीनमलं' नामके २१ वें पद्यके बाद—

सूर्यार्घ्यो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः।
संध्यासेवाग्निसंस्कारो (सत्कारो) देहगेहार्चनाविधिः ॥२१॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारः तन्मूत्रस्य निषेवणं।
रत्नवाहनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनं ॥ २३ ॥

'न सम्यक्त्वसमं' नामके ३४ वें पद्यके बाद—

दुर्गतावायुषो बंधात्सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरास्थितिः ॥ ३८ ॥

'अष्टगुण' नामके ३७ वें पद्यके बाद—

उक्तं च—अणिमा महिमा लघिमागारिमान्तर्धानकामरूपित्वं।
प्राप्ति प्राकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहतत्वमिति वैक्रियिकाः ॥४१॥

'नवनिधि' नामके ३८ वें पद्यके बाद—

उक्तं च त्रयं—रक्षितयक्षसहस्रकालमहाकालपाण्डुमाणवशंख—
नैसर्पपद्मपिंगलनानारत्नाश्च नवनिधयः ॥४३॥
ऋतुयोग्यवस्तुभाजनधान्यायुधतूर्यहर्म्यवस्त्राणि।
आभरणरत्ननिकरान् क्रमेण निधयः प्रयच्छंति ॥४४॥
चक्रं छत्रमसिर्दण्डो मणिश्चर्म च काकिणी।
गृहसेनापती तक्षपुरोधाश्वगजस्त्रियः ॥४५॥

'प्राणातिपात' नामके ५२ वें पद्यके बाद—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान्।
पूर्वं प्राण्यंतराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥ ६० ॥

'अतिवाहना' नामके ६२ वें पद्यके बाद—

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रंथान्निवर्तनं।
पंचकाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥ ७१ ॥

अह्नोमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥ ७२ ॥

मौनं भोजनवेलायां ज्ञानस्य विनयो भवेत्।
रक्षणं चाभिमानस्येत्युद्दिशंति मुनीश्वराः ॥ ७३ ॥

हदनं मूत्रणं स्नानं पूजनं परमेष्ठिनां।
भोजनं सुरतं स्तोत्रं कुर्यान्मौनसमन्वितः ॥ ७४ ॥

मांसरक्तार्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेत्।
मृतांगिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यानान्नसेवनात् ॥ ७५ ॥

मातंगश्वपचादीनां दर्शने तद्वचः श्रुतौ।
भोजनं परिहर्तव्यं मलमूत्रादिदर्शने ॥ ७६ ॥

'मद्यमांस' नामके ६६ वें पद्यके बाद—

मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
धर्मभावो न जीवेषु मधूदुम्बरसेविषु ॥ ८१ ॥

'अल्पफल' नामके ८५ वें पद्यके बाद—

स्थूलाः सूक्ष्मास्तथा जीवाः सन्त्युदुम्बरमध्यगाः।
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पंचोदुम्बरवर्जनं ॥ १०१ ॥

रससंपृक्तफलं यो दशति त्रसतनुरसैश्चसंमिश्रम्।
तस्य च मांसनिवृत्तिर्विफला खलु भवति पुरुषस्य ॥ १०२ ॥

बिल्वालाबुफले त्रिभुवनविजयी शिलीदुकं (?) न सेवेत।
आपंचदशतिथिभ्यः पयोऽपि वत्सोद्भवात्समारभ्य ॥ १०२ ॥

गालितं शुद्धमप्यम्बु संमूर्छति मुहूर्तकः।
अहोरात्रं तदुष्णं स्यात्कांजिकं दूरवाह्निकं ॥ १०४

हतिप्रायेषु पात्रेषु तोयं स्नेहं तु नाश्रयेत्।
नवनीतं न धर्तव्यंमूर्ध्वं तु प्रहरार्धतः ॥ १०५ ॥

'चतुराहारविसर्जन' नामके १०९ वें पद्यके बाद—

स प्रोषधोपवासस्तूत्तममध्यमजघन्यतास्त्रिविधः ।
चतुराहारविसर्जनजलसहिता चाम्लभेदः स्यात् ॥ १३० ॥

'नवपुण्यैः नामके पद्य नं० ११३ के बाद—

खंडनी पेषणी चुल्ही उदकुंभी प्रमार्जिनी ।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १३५ ॥
स्थापनमुच्चैः स्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामश्च ।
वाक्कायहृदयशुद्धय एषणशुद्धिश्च नवविधं पुण्यं ॥ १३६ ॥
श्रद्धाशक्तिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता दया क्षान्तिः ।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥ १३७ ॥

आहारौषध' नामके पद्य नं० ११७ के बाद—

उक्तं च त्रयम्—भैषज्यदानतो जीवो बलवान् रोगवर्जितः ।
सल्लक्षणः सुवज्रांगः तपस्वा मोक्षं व्रजेदसौ ॥ १४२ ॥

श्रावकपदानि' नामके पद्य नं० १३६ के बाद—

दर्शनिकव्रतिकावपि सामायिकः प्रोषधोपवासश्च (सी च) ॥
सचित्तरात्रिभक्तव्रतनिरतो ब्रह्मचारी च ॥ १६२ ॥
आरंभाद्विनिवृत्तः परिग्रहादनुमतेः ततोद्दिष्टात् ।
इत्येकादशनिलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥ १६३ ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धः' नामके पद्य नं० १३७ के बाद—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥ १६५ ॥
द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्या परदारसेवाः ।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके पापाधिके पुंसि कराः भवंति ॥ १६६ ॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलान्यपि ।
त्यजेन्मधुविशुद्ध्यासौ दर्शनिक इति स्मृतः ॥ १६७ ॥

'मूलफल' नामके पद्य नं० १४१ के बाद—

येन सचित्तं त्यक्तं दुर्जयजिह्वा विनिर्जिता तेन ।
जीवदया तेन कृता जिनवचनं पालितं तेन ॥ १७२ ॥

अन्नं पानं ' नामके पद्य नं० १४२ के बाद—

यो निशि भुक्तिं मुंचति तेनानशनं कृतं च षण्मासं ।
संवत्सरस्य मध्ये निर्दिष्टं मुनिवरेणेति ॥ १७४ ॥

मलबीजं ' नामके पद्य नं० १४३ के बाद—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोपि ।
सत्वेन (व) शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥ १७६ ॥

बाह्येषु दशसु ' नामके पद्य नं० १४५ के बाद—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं ।
यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश ॥ १७९ ॥

मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टयं ।
रागद्वेषाश्च संगा स्युरंतरंगचतुर्दश: ॥ १८० ॥

बाह्यग्रंथविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति ।
पुनरभ्यंतरसंगत्यागी लोकेऽतिदुलभो जीवः ॥ १८१ ॥

गृहतो मुनिवन ' नामके पद्य नं० १४७ के बाद—

एकादशके स्थाने चोत्कृष्टश्रावको भवेद्द्विविधः ।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ १८४ ॥

कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन ।
लोचं पिंछं धृत्वा भुंक्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे ॥ १८५ ॥

वीरचर्या च सूर्यप्रतिमा त्रैकालयोगनियमश्च ।
सिद्धान्तरहस्यादिस्वध्ययनं नास्तिदेशविरतानां ॥ १८६ ॥

आद्यास्तु षड्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयं ।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १८७ ॥

(२) भवनकी दूसरी मूलप्रतिमें, जिसका नंबर ६३१ है, इन उपर्युक्त चालीस पद्योंमेंसे ४३,४४,४५,६० और ८१ नंबरवाले पाँच पद्य तो बिलकुल नहीं हैं; शेष पैंतीस पद्योंमें भी २२,२३,३७,१३५,१३६,१३७,१६२,१६३, १६५,१६६,१६७,१८४,१८५,१८६,१८७ नंबरवाले पंद्रह पद्योंको मूलग्रंथका अंग नहीं बनाया गया—उन्हें टिप्पणीके तौरपर इधर उधर हाशियेपर दिया है और उनमेंसे ' खंडनी पेषणी ' आदि तीन पद्योंके साथ ' उक्तं च ' तथा ' एका-

दशके' आदि चार पद्योंके साथ 'उक्तं च चतुष्टयं' ये शब्द भी लगे हुए हैं। ४१, १७४ और १७६ नंबरवाले तीन पद्योंको ग्रंथका अंग बनाकर पीछेसे कोष्टकके भीतर कर दिया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है के ये पद्य मूलग्रंथके पद्य नहीं हैं—भूलसे मध्यमें लिखे गये हैं—उन्हें टिप्पणीके तौरपर हाशियेपर लिखना चाहिये था। इस तरहपर अठारह पद्योंको ग्रंथका अंग नहीं बनाया गया है। बाकीके सतरह पद्योंमेंसे, जिन्हें ग्रंथका अंग बनाया गया है, ७१ से ७६, १०१ से १०५ और १७२ नंबरवाले बारह पद्योंको 'उक्तं च' 'उक्तं च पंचकं' इत्यादि रूपसे दिया है और उसके द्वारा प्रथम मूलप्रतिके आशयसे भिन्न यह सूचित किया गया है कि ये स्वामी समंतभद्रसे भी पहलेके—दूसरे आचार्योंके—पद्य हैं और उन्हें समन्तभद्रने अपने मूलग्रंथमें उद्धृत किया है। हाँ, पहली प्रतिमें 'भैषज्यदानतो' नामके जिस पद्य नं० १४२ को 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंके साथ दिया है वह पद्य यहाँ उक्त शब्दोंके संसर्गसे रहित पाया जाता है और इस लिये पहली प्रतिमें उक्त शब्दोंके द्वारा जो यह सूचित होता था कि अगले 'श्रीषेण' तथा 'देवाधिदेव' नामके वे पद्य भी 'उक्तं च' समझने चाहिये जो डेढ़सौ श्लोकवाली प्रतियोंमें पाये जाते हैं वह बात इस प्रतिसे निकल जाती है। एक विशेषता और भी इस प्रतिमें देखी जाती है और वह यह है कि 'अतिवाहना' नामके ६२ वें पद्यके बाद जिन छह श्लोकोंका उल्लेख पहली प्रतिमें पाया जाता है उनका वह उल्लेख इस प्रतिमें उक्त स्थानपर नहीं है। वहाँ पर उन पद्योंमेंसे सिर्फ 'अहोमुखे' नामके ७२ वें पद्यका ही उल्लेख है—और उसे भी देकर फिर कोष्टकमें कर दिया है। उन छहों पद्योंको इस प्रतिमें 'मद्यमांस' नामके ६६ वें पद्यके बाद 'उक्तं च' रूपसे दिया है और उनके बाद 'पंचाणुव्रत' नामके ६३ वें मूल पद्यको फिरसे उद्धृत किया है।

(३) भवनकी तीसरी ६४१ नम्बरवाली प्रति कनडीटीकासहित है। इसमें पहली मूल प्रतिवाले वे सब चालीस पद्य, जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं, अपने अपने पूर्वसूचित स्थानपर और उसी क्रमको लिये हुए, टीकाके अंगरूपसे पाये जाते हैं। सिर्फ 'द्यूतं च मांसं' नामके पद्य नं० १६६ की जगह टीकामें उसी आशयका यह पद्य दिया हुआ है—

> द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्द्धिः परदारता।
> स्तोयेन सह सप्तेति व्यसनानि विदूरयेत्॥

इसके सिवाय इतनी विशेषता और भी है कि पहली मूल प्रतिमें सिर्फ पाँच पद्योंके साथ ही ' उक्तं च, ' ' उक्तं च त्रयं ' शब्दोंका संयोग था। इस प्रतिमें उन पद्योंके अतिरिक्त दूसरे और भी २१ पद्योंके साथ वैसे शब्दोंका संयोग पाया जाता है-अर्थात्, नं० १०१ से १०५ तकके पांच पद्योंको ' उक्तं च पंचकं, ' १३५* से १३७ नंबरवाले तीन पद्योंको ' उक्तं च, ' १६५ से १६७ नंबरवाले तीन पद्योंको ' उक्तं च त्रयं ' १७२, १७४, १७६ नंबरवाले पद्योंको जुदा जुदा ' उक्तं च, ' १७९ से १८१ नंबरवाले तीन पद्योंको ' उक्तं च त्रयं' और १८४ से १८७ नंबरवाले चार पद्योंको ' उक्तं च चतुष्टयं ' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। साथ ही, इस टीका तथा दूसरी टीकामें भी ' भैषज्यदानतो ' नामके पद्यके साथ ' श्रीषेण ' और ' देवाधिदेव ' नामके पद्योंको भी 'उक्तं च त्रयं' रूपसे एक साथ उद्धृत किया है। भाऊ बाबाजी लठ्ठे द्वारा प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनादिसे ऐसा मालूम होता है कि कनड़ी लिपिकी २०० श्लोकोंवाली प्रतिमें ' भैषज्यदानतो ' नामक पद्यके बाद यह पद्य भी दिया हुआ है—

शास्त्रदानफलेनात्मा कलासु सकलास्वपि।
परिज्ञाता भवेत्पश्चात्केवलज्ञानभाजनं ॥ १

संभव है कि श्रीषेण' नामक पद्यको साथ लेकर ये तीनों पद्य ही 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंके वाच्य हों, और 'शास्त्रदान' नामका यह पद्य कनड़ी टीकाकी इन प्रतियोंमें छूट गया हो।

(४) भवनकी चौथी ६२९ नंबरवाली प्रति भी कनड़ीटीकासहित है। इसकी हालत प्रायः तीसरी प्रति जैसी है, विशेषता सिर्फ इतनी ही यहाँ उल्लेख योग्य है कि इसमें १७४ नंबरवाले पद्यके साथ ' उक्तं च ' शब्द नहीं दिये और १७२ नंबरवाले पद्यके साथ ' उक्तं च ' की जगह 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंका प्रयोग किया है परंतु उनके बाद श्लोक वही एक दिया है। इसके सिवाय इस टीकामें ६० नंबरवाले पद्यके 'उक्तं च ' ७१ से ७६ नंबरवाले छह पद्योंको ' उक्तं च षट्कं ' और १६२, १६३ नंबरवाले दो पद्योंको ' उक्तं च द्वयं ' लिखा है। और इन ९ पद्योंका यह उल्लेख तीसरी प्रतिसे इस प्रतिमें अधिक है।

---

*१३५ और १३६ नंबरवाले पद्य रत्नकरंडकी इस संस्कृतटीकामें भी 'तदुक्तं' आदिरूपसे उद्धृत किये गये हैं।

(५) चारों प्रतियोंके इस परिचयसे * साफ जाहिर है कि उक्त दोनों मूल प्रतियोंमें परस्पर कितनी विभिन्नता है। एक प्रतिमें जो श्लोक टिप्पणादिके तौर पर दिये हुए हैं, दूसरीमें वे ही श्लोक मूल रूपसे पाये जाते हैं। इसी तरह दोनों टीकाओंमें जिन पद्योंको 'उक्तं च' आदिरूपसे दूसरे ग्रंथोंसे उद्धृत करके टीकाका एक अंग बनाया गया था उन्हें उक्त मूल प्रतियों अथवा उनसे पहली प्रतियोंके लेखकोंने मूलका ही अंग बना डाला है। यद्यपि, इस परिचयपरसे, किसीको यह बतलानेकी ऐसी कुछ जरूरत नहीं रहती कि पहली मूल प्रतिमें जो ४० पद्य बढ़ हुए हैं और दूसरी मूलप्रतिमें जिन १७ पद्योंको मूलका अंग बनाया गया है वे सब मूल ग्रंथके पद्य नहीं हैं; बल्कि टीका-टिप्पणियोंके ही अंग हैं—विज्ञ पाठक ग्रंथमें उनकी स्थिति, पूर्वापर पद्योंके साथ उनके सम्बंध, टीकाटिप्पणियोंमें उनकी उपलब्धि, ग्रंथके साहित्यसंदर्भ, ग्रंथकी प्रतिपादन शैली, समंतभद्रके मूल ग्रंथोंकी प्रकृति ‡ और दूसरे ग्रंथोंके पद्यादि विषयक अपने अनुभवपरसे सहजहीमें इस नतीजेको पहुँच सकते हैं कि वे सब दूसरे ग्रंथोंके पद्य हैं और इन प्रतियों तथा इन्हीं जैसी दूसरी प्रतियोंमें किसी तरहपर प्रक्षिप्त हो गये हैं—फिर भी साधारण पाठकोंके संतोषके लिये, यहाँपर कुछ पद्योंके सम्बंधमें, नमूनेके तौरपर, यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि वे कौनसे ग्रंथोंके पद्य हैं और इस ग्रंथमें उनकी क्या स्थिति है। अतः नीचे उसीका यत्किंचित् प्रदर्शन किया जाता है—

क–'सूर्यार्घ्यो ग्रहणस्नानं,' 'गोपृष्ठान्तनमस्कारः' नामके ये दो पद्य, यशस्तिलक ग्रंथके छठे आश्वासके पद्य हैं और उसके चतुर्थकल्पमें पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें, यद्यपि, इन्हें टिप्पणीके तौर पर नीचे दिया है तो भी पहली मूल प्रतिमें 'आपगासागरस्नानं' नामके पद्यसे पहले देकर यह सूचित किया है कि ये लोकमूढताके द्योतक पद्य हैं और, इस तरह पर, ग्रंथकर्ताने लोकमूढताके तीन पद्य दिये हैं। परंतु ऐसा नहीं है। ग्रंथकार महोदयने शेष दो मूढताओंकी

---

* यह परिचय उस नोट परसे दिया गया है जो जैनसिद्धान्तभवन आराका निरीक्षण करते हुए हमने पं० शांतिराजजीकी सहायतासे तय्यार किया था।

‡ दोनों मूल प्रतियोंमें कुछ पद्योंको जो 'उक्तं च' रूपसे ग्रंथका अंग बनाया गया है वह स्वामी समंतभद्रके मूल ग्रंथोंकी प्रकृतिके विरुद्ध जान पड़ता है।

तरह 'लोकमूढता'का भी वर्णन एक ही पद्यमें किया है। १३ वीं शताब्दीके विद्वान् पं० आशाधरजीने भी' अपने 'अनगारधर्मामृत'की टीकामें स्वामिसमंतभद्रके नामसे—'स्वामिसूक्तानि' पदके साथ—मूढत्रयके द्योतक उन्हीं तीन पद्योंको उद्धृत किया है जो इस सटीक ग्रंथमें पाये जाते हैं। इसके सिवाय उक्त दोनों पद्य खालिस 'लोकमूढता'के द्योतक हैं भी नहीं। और न उन्हें वैसा सूचित किया गया है। यशस्तिलकमें उनके मध्यवर्ती यह पद्य और दिया है—

नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसां।
तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः।

और इस तरहपर तीनों पद्योंमें मूढताओंके कथनका कुछ समुच्चय किया गया है, पृथक् २ स्वरूप किसीका नहीं दिया गया—जैसा कि उनके बादके निम्न पद्यसे प्रकट है—

समयान्तरपाषण्डवेदलोकसमाश्रयम्।
एवमादि विमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा।

इस सब कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों पद्य मूलग्रंथके नहीं बल्कि यशस्तिलकके हैं।

ख—'मूढत्रयं' नामका १६५ नंबरवाला पद्य भी यशस्तिलकके छठे आश्वास (कल्प नं० २१) का पद्य है। वह साफ तौरसे 'सम्यग्दर्शनशुद्धः' पदकी टीका टिप्पणीके लिये उद्धृत किया हुआ ही जान पड़ता है—दूसरी प्रतिकी टिप्पणीमें वह दिया भी है। मूलग्रंथके संदर्भके साथ उसका कोई मेल नहीं—वह वहाँ निरा अनावश्यक जान पड़ता है। स्वामिसमंतभद्रने सूत्ररूपसे प्रत्येक प्रतिमाका स्वरूप एक एक पद्यमें ही दिया है।

इसी तरहपर, 'मांसासिषु' और 'श्रद्धाशक्ति' नामके पद्य नं० ८१,१३७ भी यशस्तिलकके ही जान पड़ते हैं। वे क्रमशः उसके ७ वें, ८ वें आश्वासमें जरासे पाठभेदके * साथ पाये जाते हैं। मूलग्रंथके संदर्भके साथ इनका भी मेल

* पहले पद्यमें 'धर्मभावो न जीवेषु' की जगह 'आनृशंस्यं न मर्त्येषु' यह पाठ दिया है। और दूसरे पद्यमें 'शक्तिः' की जगह 'तुष्टिः,' 'दयाक्षान्ति'की जगह 'क्षमाशक्तिः' और 'यस्मैते' की जगह 'यत्रैते' ये पाठ दिये हैं जो बहुत साधारण हैं।

नहीं। पहले पद्यमें 'उदुम्बरसेवा'का उल्लेख, खास तौरसे खटकता है—ये पद्य भी टीका टिप्पणीके लिये ही उद्धृत किये हुए जान पड़ते हैं। पहला पद्य दूसरी प्रतिमें है भी नहीं और दूसरा उसकी टिप्पणीमें ही पाया जाता है। इससे भी ये मूल पद्य मालूम नहीं होते।

ग—'अह्नोमुखेवसाने' नामका ७२ नंबरवाला पद्य हेमचंद्राचार्यके 'योग-शास्त्र'का पद्य है और उसके तीसरे प्रकाशमें नंबर ६३ पर पाया जाता है। यहाँ मूलग्रंथकी पद्धति और उसके प्रतिपाद्य विषयके साथ उसका कोई सम्बंध नहीं।

घ—'वधादसत्यात्' नामका ७१ वाँ पद्य चामुंडरायके 'चारित्रसार' ग्रन्थका पद्य है और वहींसे लिया हुआ जान पड़ता है। इसमें जिन पंचाणुव्रतोंका उल्लेख है उनका वह उल्लेख इससे पहले, मूल ग्रन्थके ५२ वें पद्यमें आ चुका है। स्वामी समंतभद्रकी प्रतिपादनशैली इस प्रकार व्यर्थकी पुनरुक्तियोंको लिये हुए नहीं होती, इसके सिवाय ५१ वें पद्यमें अणुव्रतोंकी संख्या पाँच दी है और यहाँ इस पद्यमें 'रात्र्यभुक्ति' को भी छठा अणुव्रत बतलाया है, इससे यह पद्य ग्रंथके साथ बिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है।

इसी तरह पर 'दर्शनिकव्रतकावपि,' 'आरंभाद्विनिवृत्तः' और 'आद्यास्तु षट् जघन्याः' नामके तीनों पद्य भी चारित्रसार ग्रंथसे लिये हुए मालूम होते हैं और उसमें यथास्थान पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें भी इन्हें टिप्पणीके तौर पर ही उद्धृत किया है और टीकामें तो 'उक्तं च' रूपसे दिया ही है। मूल ग्रंथके संदर्भके साथ ये अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

ङ—'मौनं भोजनवेलायां', 'मांसरक्तार्द्रचर्मास्थि', 'स्थूलाः सूक्ष्मास्तथा जीवाः', नामके ७३, ७५ और १०१ नम्बरवाले ये तीनों पद्य पूज्यपादकृत उस उपासकाचारके पद्य हैं, जिसकी जाँचका लेख हमने जैनहितैषी भाग १५ के १२ वें अंकमें प्रकाशित कराया था। उसमें ये पद्य क्रमशः नं० २९, २८ तथा ११ पर दर्ज हैं। यहाँ ग्रंथके साहित्य, संदर्भादिसे इनका कोई मेल नहीं और ये खासे असम्बद्ध मालूम होते हैं।

ऐसी ही हालत दूसरे पद्योंकी है और वे कदापि मूल ग्रंथके अंग नहीं हो सकते। उन्हें भी उक्त पद्योंकी तरह, किसी समय किसी व्यक्तिने, अपनी याद-दाश्त आदिके लिये, टीका टिप्पणीके तौर पर उद्धृत किया है और बादको, उन टीका टिप्पणवाली प्रतियों परसे मूल ग्रंथकी नकल उतारते समय, लेख-

कोंकी असावधानी और नासमझीसे वे मूल ग्रंथका ही एक बेढंगा अथवा बेडौल अंग बना दिये गये हैं। सच है ' मुर्दा बदस्त जिन्दा ख्वाह गाड़ो या कि फूँको।' शास्त्र हमारे कुछ कह नहीं सकते, उन्हें कोई तोड़ो या मरोड़ो, उनकी कलेवरवृद्धि करो अथवा उन्हें तनुक्षीण बनाओ, यह सब लेखकोंके हाथका खेल और उन्हींकी कर्तूत है!! इन बुद्धू अथवा नासमझ लेखकोंकी बदौलत ग्रंथोंकी कितनी मिट्टी खराब हुई है उसका अनुमान तक भी नहीं हो सकता। ग्रंथोंकी इस खराबीसे कितनी ही गलतफहमियाँ फैल चुकी हैं और यथार्थ वस्तुस्थितिको मालूम करनेमें बड़ी ही दिक्कतें आ रही हैं। श्रुतसागरसूरिको भी शायद ग्रंथकी कोई ऐसी ही प्रति उपलब्ध हुई है और उन्होंने उस पर ' एकादशके ' आदि उन चार पद्योंको स्वामी समंतभद्र द्वारा ही निर्मित समझ लिया है जो ' गृहतो मुनिवनमित्वा ' नामके १४७ वें पद्यके बाद उक्त पहली मूल प्रतिमें पाये जाते हैं। यही वजह है कि उन्होंने ' षट्प्राभृत ' की टीकामें* उनका महाकवि समंतभद्रके नामके साथ उल्लेख किया है और उनके आदिमें लिखा है ' उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना '। अन्यथा, वे समन्तभद्रके किसी भी ग्रंथमें नहीं पाये जाते और न अपने साहित्य परसे ही वे इस बातको सूचित करते हैं कि उनके रचयिता स्वामी समंतभद्र जैसे कोई प्रौढ विद्वान् और महाकवि आचार्य हैं। अवश्य ही वे दूसरे किसी ग्रंथ अथवा ग्रंथोंके पद्य हैं और इसीसे दूसरी मूल प्रतिके टिप्पणमें और दोनों कनड़ी टीकाओंमें उन्हें ' उक्तं च चतुष्टयं ' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। एक पद्य तो उनमेंसे चारित्रसार ग्रंथका ऊपर बतलाया भी जा चुका है।

यहाँ पर यह प्रगट करना शायद कुछ अप्रासंगिक न होगा कि जो लोग अपनेको जिनवाणी माताके भक्त समझते हैं अथवा उसकी भक्तिका दम भरते हैं उनके लिये यह बड़ा ही लज्जाका विषय है जो उनके शास्त्रभंडारोंमें उन्हींके धर्मग्रंथोंकी ऐसी खराब हालत पाई जाती है। माता उनके सामने लुटती रहे, उस पर अत्याचार होता रहे, उसके अंग विकृत अथवा छिन्न भिन्न किये जाते रहें, कोई उसका सतीत्व भी हरण करता रहे और वे उसकी कुछ भी पर्वाह न करते हुए मौनावलम्बी रहें! क्या इसीका नाम मातृभक्ति है? इसका नाम कदापि मातृभक्ति नहीं हो सकता। पुत्रोंका ऐसा आचरण उनके लिये महान् कलंक है और

---

* देखो, सूत्रप्राभृत की गाथा नंबर २१ की टीका।

उन्हें धिक्कारका पात्र बनाता है। उन्हें माताकी सच्ची खबरदारी और उसकी सच्ची रक्षाका प्रबंध करना चाहिये—ऐसा विशाल आयोजन करना चाहिये जिससे जिनवाणीका प्रत्येक अंग—प्रत्येक धर्मग्रंथ अपनी अविकल स्थितिमें—अपने उस असली स्वरूपमें जिसमें किसी आचार्य महोदयने उसे जन्म दिया है—उपलब्ध हो सके। ऐसा होने पर ही वे अपना मुख उज्ज्वल कर सकेंगे और अपनेको जिनवाणी माताका भक्त कहला सकेंगे। अस्तु।

जाँचका सारांश।

इस लम्बी चौड़ी जाँचका सारांश सिर्फ इतना ही है कि—

१–ग्रंथकी दो प्रकारकी प्रतियाँ पाई जाती हैं–एक तो वे जो इस सटीक प्रतिकी तरह डेढ़सौ श्लोकसंख्याको लिये हुए हैं और दूसरी वे जिन्हें ऊपर 'अधिक पद्यों-वाली प्रतियाँ' सूचित किया है। तीसरी प्रकारकी ऐसी कोई उल्लेखयोग्य प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई जिसमें पद्योंकी संख्या डेढ़सौसे कम हो। परंतु ऐसी प्रतियोंके उपलब्ध होनेकी संभावना बहुत कुछ है। उनकी तलाशका अभी-तक कोई यथेष्ट प्रयत्न भी नहीं हुआ जिसके होनेकी जरूरत है।

२–ग्रंथकी डेढ़सौ श्लोकोंवाली इस प्रतिके जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया जाता है अथवा जिन पर क्षेपक होनेका संदेह किया जाता है उनमेंसे 'चतुराहार-विसर्जन' और दृष्टान्तोंवाले पद्योंको छोड़कर शेष पद्योंका क्षेपक होना युक्ति-युक्त मालूम नहीं होता और इसलिये उनके विषयका संदेह प्रायः निर्मूल जान पड़ता है।

३–ग्रंथमें 'चतुराहारविसर्जन' नामका पद्य और दृष्टांतोंवाले छहों पद्य, ऐसे सात पद्य बहुत ही संदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हैं। उन्हें ग्रंथका अंग मानने और स्वामी समंतभद्रके पद्य स्वीकारनेमें कोई युक्तियुक्त कारण मालूम नहीं देता। वे खुशीसे उस कसौटी (कारणकलाप) के दूसरे तीसरे और पाँचवें भागोंमें आ जाते हैं जो क्षेपकोंकी जाँचके लिये इस प्रकरणके शुरूमें दी गई है। परंतु इन पद्योंके क्षेपक होनेकी हालतमें यह जरूर मानना पड़ेगा कि उन्हें ग्रंथमें प्रक्षिप्त हुए बहुत समय बीत चुका है–वे इस टीकासे पहले ही ग्रंथमें प्रविष्ट हो चुके है–और इसलिये ग्रन्थकी ऐसी प्राचीन तथा असंदिग्ध प्रतियोंको खोज निकालनेकी खास जरूरत है जो इस टीकासे पहलेकी—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी—लिखी हुई हों अथवा जो खास तौर पर प्रकृत

विषय पर अच्छा प्रकाश डालनेके लिये समर्थ हो सकें। साथ ही, इस बातकी भी तलाश होनी चाहिये कि १३ वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए कौन कौनसे ग्रंथोंमें किस रूपसे ये पद्य पाये जाते हैं और इस संस्कृत टीकासे पहलेकी बनी हुई कोई दूसरी टीका भी इस ग्रंथ पर उपलब्ध होती है या नहीं। ऐसा होने पर ये पद्य तथा दूसरे पद्य भी और ज्यादा रोशनीमें आजायँगे और मामला बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा।

४—अधिक पद्योंवाली प्रतियोंमें जो पद्य अधिक पाये जाते हैं वे सब क्षेपक हैं। उन पर क्षेपकत्वके प्रायः सभी कारण चारितार्थ होते हैं और ग्रंथमें उनकी स्थिति बहुत ही आपत्तिके योग्य पाई जाती है। वे बहुत साफ तौर पर दूसरे ग्रंथोंसे टीका टिप्पणीके तौर पर उद्धृत किये हुए और बादको लेखकोंकी कृपासे ग्रंथका अंग बना दिये गये मालूम होते हैं। ऐसे पद्योंको ग्रंथका अंग मानना उसे बेढंगा और बेडौल बना देना है। इस प्रकारकी प्रतियाँ पद्योंकी एक संख्याको लिये हुए नहीं हैं और यह बात उनके क्षेपकत्वको और भी ज्यादा पुष्ट करती है।

आशा है, इस जाँचके लिये जो इतना परिश्रम किया गया है और प्रस्तावनाका इतना स्थान रोका गया है वह व्यर्थ न जायगा। विज्ञ पाठक इसके द्वारा अनेक स्थितियों, परिस्थितियों और घटनाओंका अनुभव कर जरूर अच्छा लाभ उठाएँगे, और यथार्थ वस्तुस्थितिको समझनेमें बहुत कुछ कृतकार्य होंगे। साथ ही, जिनवाणी माताके भक्तोंसे भी यह आशा की जाती है कि वे, धर्म-ग्रंथोंकी ओर अपनी इस हानिकर लापरवाहीको और अधिक दिनों तक जारी न रखकर शीघ्र ही माताकी सच्ची रक्षा, सच्ची खबरगीरी और उसके सच्चे उद्धारका कोई ठोस प्रयत्न करेंगे जिससे प्रत्येक धर्मग्रंथ अपनी अविकल स्थितिमें सर्व साधारणको उपलब्ध हो सके।

टीका और टीकाकार प्रभाचंद्र।

इस ग्रंथपर, 'रत्नकरण्डक-विषमपदव्याख्यान' नामके एक संस्कृतटिप्पणको छोड़कर जो आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है और जिसपरसे उसके कर्त्ताका कोई नामादिक मालूम नहीं होता, संस्कृतकी * सिर्फ यही एक टीका

---

* कनड़ी भाषामें भी इस ग्रंथपर कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परंतु उनके रचयिताओं आदिका कुछ हाल मालूम नहीं हो सका। तामिल भाषाका 'अरुंगल-

अभीतक उपलब्ध हुई है जो इस ग्रंथके साथ प्रकाशित हो रही है। इसी टीकाकी बाबत, पिछले पृष्ठोंमें, हम बराबर कुछ न कुछ उल्लेख करते आये हैं और उसपरसे टीकाका कितना ही परिचय मिल जाता है। हमारी इच्छा थी कि इस टीकापर एक विस्तृत आलोचना लिख दी जाती परंतु समयके अभाव और लेखके अधिक बढ़ जानेके कारण वह कार्यमें परिणत नहीं हो सकी। यहाँ पर टीकाके संबंधमें, सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना उचित मालूम होता है कि यह टीका प्रायः साधारण है—ग्रंथके मर्मको अच्छी तरहसे उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है और न इसमें गृहस्थधर्मके तत्त्वोंका कोई अच्छा विवेचन ही पाया जाता है—सामान्य रूपसे ग्रंथके प्रायः शब्दानुवादको ही लिये हुए है। कहीं कहीं तो जरूरी पदोंके शब्दानुवादको भी छोड़ दिया है; जैसे 'भयाशास्नेह' नामके पद्यकी टीकामें 'कुदेवागमलिंगिनां' पदका कोई अनुवाद अथवा स्पष्टीकरण नहीं दिया गया जिसके देनेकी खास जरूरत थी, और कितने ही पदोंमें आए हुए 'आदि' शब्दकी कोई व्याख्या नहीं की गई जिससे यह मालूम होता कि वहाँ उससे क्या कुछ अभिप्रेत है। इसके सिवाय, टीकामें ये तीन खास विशेषताएँ पाई जाती हैं—

प्रथम तो यह कि, इसमें मूल ग्रंथको सातकी जगह पाँच परिच्छेदोंमें विभाजित किया है—अर्थात्, 'गुणव्रत' और 'प्रतिमा' वाले अधिकारोंको अलग अलग परिच्छेदोंमें न रखकर उन्हें क्रमशः 'अणुव्रत' और 'सल्लेखना' नामके परिच्छेदोंमें शामिल कर दिया है। मालूम नहीं, यह लेखकोंकी कृपाका फल है अथवा टीकाकारका ही ऐसा विधान है। जहाँतक हम समझते हैं, विषय-विभागकी दृष्टिसे, ग्रंथके सात परिच्छेद ही ठीक मालूम होते हैं और वे ही ग्रंथकी मूल प्रतियोंमें पाये जाते हैं *। यदि सात परिच्छेद नहीं रखने थे तो फिर चार

छेप्पु' (रत्नकरण्डक) ग्रंथ इस ग्रंथको सामने रखकर ही बनाया गया मालूम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसीका ही प्रायः भावानुवाद अथवा सारांश जान पड़ता है। (देखो, अँग्रेजी जैनगजटमें प्रकाशित उसका अंग्रेजी अनुवाद।) परंतु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल भाषाकी टीका ही कह सकते हैं। हिन्दीमें पं० सदासुखजीका भाष्य (स्वतंत्र व्याख्यान) प्रसिद्ध ही है।

* देखो 'सनातनजैनग्रंथमाला' के प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, जिसे निर्णयसागरप्रेस बम्बईने सन् १९०५ में प्रकाशित किया

होने चाहियें थे। गुणव्रतोंके अधिकारको तो, 'एवं पंचप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिःप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह' इस वाक्यके साथ, अणुव्रत-परिच्छेदमें शामिल कर देना परंतु शिक्षाव्रतोंके कथनको शामिल न करना क्या अर्थ रखता है, यह कुछ समझमें नहीं आता। इसीसे टीकाकी यह विशेषता हमें आपत्तिके योग्य जान पड़ती है।

दूसरी विशेषता यह कि, इसमें दृष्टान्तोंवाले छहों पद्योंको उदाहृत किया है—अर्थात्, उनकी तेईस कथाएं दी हैं। ये कथाएँ कितनी साधारण, श्रीहीन, निष्प्राण, तथा आपत्तिके योग्य हैं और उनमें क्या कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं, इस विषयकी कुछ सूचनाएँ पिछले पृष्ठोंमें, 'संदिग्धपद्य' शीर्षकके नीचे, सातवीं आपत्तिका विचार करते हुए, दी जा चुकी हैं। वास्तवमें इन कथाओंकी त्रुटियोंको प्रदर्शित करनेके लिये एक अच्छा खासा निबंध लिखा जा सकता है, जिसकी यहाँ पर उपेक्षा की जाती है।

तीसरी विशेषता यह है कि, इस टीकामें श्रावकके ग्यारह पदोंको—प्रतिमाओं, श्रेणियों अथवा गुणस्थानोंको—सल्लेखनानुष्ठाता (समाधिमरण करनेवाले) श्रावकके ग्यारह भेद बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि जो श्रावक समाधिमरण करते हैं—सल्लेखनाव्रतका अनुष्ठान करते हैं—उन्हींके ये ग्यारह भेद हैं। यथा—

"साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कतिप्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैःसह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥"

इस अवतरणमें 'श्रावकपदानि' नामका उत्तर अंश तो मूल ग्रंथका पद्य है और उससे पहला अंश टीकाकारका वह वाक्य है जिसे उसने उक्त पद्यको देते हुए उसके विषयादिकी सूचना रूपसे दिया है। इस वाक्यमें लिखा है कि 'अब सल्लेखनाका अनुष्ठाता जो श्रावक है उसके कितनी प्रतिमाएँ होती हैं, इस बातकी आशंका करके आचार्य कहते हैं।' परंतु आचार्य महोदयके उक्त पद्यमें न तो वैसी कोई आशंका उठाई गई है और न यही प्रतिपादन किया गया है कि ये ११

था। जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय बम्बई आदि द्वारा प्रकाशित और भी बहुत संस्करणोंमें तथा पुराने हस्तलिखित प्रतियोंमें वे ही सात परिच्छेद पाये जाते हैं जिनका उल्लेख प्रस्तावनाके शुरूमें 'ग्रंथपरिचय' के नीचे किया गया है।

प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके होती हैं; बल्कि 'श्रावकपदानि' पदके प्रयोग द्वारा उसमें सामान्य रूपसे सभी श्रावकोंका ग्रहण किया है—अर्थात् यह बतलाया है कि श्रावकलोग ११ श्रेणियोंमें विभाजित हैं। इसके सिवाय, अगले पद्योंमें, श्रावकोंके उन ११ पदोंका जो अलग अलग स्वरूप दिया है उसमें सल्लेखनाके लक्षणकी कोई व्याप्ति अथवा अनुवृत्ति भी नहीं पाई जाती—सल्लेखनाका अनुष्ठान न करता हुआ भी एक श्रावक अनेक प्रतिमाओंका पालन कर सकता है और उन पदोंसे विभूषित हो सकता है। इस लिये टीकाकारका उक्त लिखना मूल ग्रंथके आशयके प्रायः विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे प्रधान ग्रंथोंसे *भी उसका कोई समर्थन नहीं होता—प्रतिमाओंका कथन करनेवाले दूसरे किसी भी* आचार्य अथवा विद्वानके ग्रंथोंमें ऐसा विधान नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि ये प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके ग्यारह भेद हैं। प्रत्युत इसके ऐसा प्रकार देखनेमें आता है कि इन सभी श्रावकोंको मरणके निकट आनेपर सल्लेखनाके सेवनकी प्रेरणा की गई है, जिसका एक उदाहरण 'चारित्रसार' ग्रंथका यह वाक्य है—"उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या।' और यह है भी ठीक, सल्लेखनाका सेवन मरणके संनिकट होनेपर ही किया जाता है और बाकीके धर्मों—व्रतानियमादिकों—का अनुष्ठान तो प्रायः जीवनभर हुआ करता है। इस लिये ये ११ प्रतिमाएँ केवल सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके भेद नहीं हैं बल्कि श्रावकाचार*-विधिके विभेद हैं, श्रावकधर्मका अनुष्ठान करनेवालोंकी खास श्रेणियाँ हैं—और इनमें प्रायः सभी श्रावकोंका समावेश हो जाता है। हमारी रायमें टीकाकारको 'सल्लेखनानुष्ठाता' के स्थानपर 'सद्धर्मानुष्ठाता' पद देना चाहिये था। ऐसा होनेपर मूलग्रंथके साथ भी टीकाकी संगति ठीक बैठ जाती; *क्यों कि मूलमें इससे पहले उस सद्धर्म—अथवा समीचीन धर्मके फलका कीर्तन* किया गया है जिसके कथनकी आचार्य महादेयने ग्रंथके शुरूमें प्रतिज्ञा की थी और पूर्व पद्यमें 'फलति सद्धर्मः' ये शब्द भी स्पष्ट रूपसे दिये हुए हैं—उसी सद्धर्मके अनुष्ठाताको अगले पद्योंद्वारा ११ श्रेणियोंमें विभाजित किया है। परंतु जान पड़ता है टीकाकारको शायद ऐसा करना इष्ट नहीं था और शायद यही वजह हो

---

* श्रीअमितगति आचार्यके निम्नवाक्यसे भी ऐसा ही पाया जाता है—

एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वैरुपासकाचारविधेर्विभेदाः।
पवित्रमारोढुमनल्यलभ्यं सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम्॥

—उपासकाचार।

जो उसने सल्लेखना और प्रतिमाओंके दोनों अधिकारोंको एक ही परिच्छेदमें शामिल किया है। परंतु कुछ भी हो, यह तीसरी विशेषता भी आपत्तिके योग्य जरूर है। अस्तु।

यह टीका 'प्रभाचंद्र' आचार्यकी बनाई हुई है। परंतु टीकामें न तो प्रभाचंद्रकी कोई प्रशस्ति है, न टीकाके बननेका समय दिया है और न टीकाकारने कहीं पर अपने गुरुका ही नामोल्लेख किया है। ऐसी हालतमें यह टीका कौनसे प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई है और कब बनी है, इस प्रश्नका उत्पन्न होना स्वाभाविक है; और वह अवश्य ही यहाँ पर विचार किये जानेके योग्य है; क्योंकि जैन समाजमें 'प्रभाचंद्र' नामके बीसियों * आचार्य हो गये हैं, जिनमेंसे कुछका—जिनका हम अभी तक अनुसंधान कर सके हैं—सामान्य परिचय अथवा पता मात्र इस प्रकार है—

(१) वे प्रभाचंद्र जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके प्रथम शि० लेखमें पाया जाता है, और जिनकी बाबत यह कहा जाता है कि वे भद्रबाहु श्रुतकेवलीके दीक्षित शिष्य सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' थे।

(२) वे प्रभाचंद्र जिनका श्रीपूज्यपादकृत जैनेन्द्र व्याकरणके 'रात्रेः कृति प्रभाचंद्रस्य' इस सूत्रमें उल्लेख मिलता है।

(३) वे प्रभाचंद्र जिनका उल्लेख, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित 'शुभचंद्राचार्यकी गुर्वावली' और 'नंदिसंघकी पट्टावलीके आचार्योंकी नामावलीमें, 'लोकचंद'के बाद और 'नेमिचंद' से पहले पाया जाता है। साथ ही पट्टावलीमें जिनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेका समय भी वि० संवत् ४५३ दिया है †। यदि यह समय ठीक हो तो दूसरे नंबर वाले प्रभाचंद्र और ये दोनों एक व्यक्ति भी हो सकते हैं।

---

* सन् १९२१-२२ में इस टीकाके कर्तृत्व-विषय पर कुछ विद्वानोंने चर्चा चलाई थी, और 'प्रभाचंद्र कितने हैं' इत्यादि शीर्षकोंको लिये हुए कितने ही लेख उस समय जैनमित्र, जैनसिद्धान्त, जैनबोधक और जैनहितेच्छु पत्रोंमें प्रकाशित हुए थे। उन लेखोंमें प्रभाचंद्र नामके विद्वानोंकी जो संख्या प्रकाशित हुई थी वह शायद पाँचसे अधिक नहीं थी।

† जैनहितैषी भाग छठा, अंक ७–८ में प्रकाशित 'गुर्वावली' और 'पट्टावली'में भी यह सब उल्लेख मिलता है।

(४) वे प्रभाचंद्र जो परलुरुनिवासी 'विनयनन्दी' आचार्यके शिष्य थे और जिन्हें चालुक्य राजा 'कीर्तिवर्मा' प्रथमने एक दान दिया था*। ये आचार्य विक्रमकी छठी और सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे, क्यों कि उक्त कीर्तिवर्माका अस्तित्व समय शक सं० ४८९ पाया जाता है।

(५) 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचंद्रोदय'के कर्ता वे प्रसिद्ध प्रभाचंद्र, जो 'परीक्षामुख'के रचयिता माणिक्यनन्दी आचार्यके शिष्य थे और आदिपुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने जिनकी स्तुति की है। ये आचार्य विक्रमकी प्रायः ८ वीं ९ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। जैनेन्द्र व्याकरणका 'शब्दाम्भोजभास्कर' नामका महान्यास ‡ भी संभवतः आपका ही बनाया हुआ है और शायद 'शाकटायनन्यास'के कर्ता भी आप ही हों; क्यों कि शिमोगा जिलेसे मिले हुए नगर ताल्लुकेके ४६ वें नंबरके शिलालेखमें एक पद्य इस प्रकार पाया जाता है—

सुखि....न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥

(६) वे प्रभाचंद्र जो 'पुष्पनंदी' के शिष्य और 'तोरणाचार्य' के प्रशिष्य थे और जिनके लिये शक संवत् ७१९ वि० सं० ८५४ में एक वसतिका बनाई गई थी, जिसका उल्लेख राष्ट्रकूट राजा तृतीय गोविंदके एक ताम्रपत्रमें मिलता है। शक सं० ७२४ के दूसरे ताम्रपत्रमें भी आपका उल्लेख है +।

(७) वे प्रभाचंद्र जो 'ऋषभनन्दि' अपर नाम 'चतुर्मुखदेव'के शिष्य और वक्रगच्छके आचार्य 'गोपनन्दि'के × सहाध्यायी (गुरुभाई) थे; और

---

* देखो 'साउथ इंडियन जैनिज्म' भाग दूसरा, पृ० ८८।

‡ इस न्यासकी एक प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें मौजूद है परंतु करीब १२००० श्लोक परिमाण होने पर भी वह अपूर्ण है—अन्तके दो अध्यायोंका न्यास उसमें नहीं है— पूरा न्यास ३०००० श्लोकपरिमाण बतलाया जाता है, ऐसा पं० नाथूरामजी प्रेमी सूचित करते हैं।

+ देखो, माणिकचंद्रग्रंथमालामें प्रकाशित 'षट्प्राभृतादिसंग्रह' की भूमिका।

× गोपनन्दिको होयसल राजा एरेयंगने शक सं० १०१५ में जीर्णोद्धार आदि कार्योंके लिये दो गाँव दान किये थे। देखो, एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ५वींमें चन्नरायपट्टण ताल्लुकेका शि० लेख नं० १४८।

जिनकी प्रशंसामें श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५५ (६९) में ये वाक्य दिये हुए हैं—

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोधो मणिः॥
स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिश्श्रीमान्प्रभाचन्द्रमाः॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्यो ऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितश्श्रीप्रभाचन्द्रो रुन्द्रवादिगजाङ्कुशः॥

इन परिचय वाक्योंसे मालूम होता है कि ये प्रभाचंद्र न्याय तथा व्याकरणके बहुत बड़े पंडित थे और इनके चरणकमल धाराधिपति भोजराजके द्वारा पूजित थे और इसलिये इन्हें राजा भोजके समकालीन अथवा विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १२ वीं शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान् समझना चाहिये।

(८) वे प्रभाचंद्र जो अविद्धकर्ण 'पद्मनंदि' सैद्धान्तिकके शिष्य 'कुलभूषण'के सधर्मा—और इसलिये उक्त पद्मनंदिके प्रसिद्ध नाम 'कौमारदेव'के शिष्य—थे और जिन्हें श्रवणबेल्गोलके ४० वें शिलालेखमें 'प्रथित तर्कग्रंथकार, आदि विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। यथा—

शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रंथकारः प्रभा-
चंद्राख्यो मुनिराजपंडितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः॥

ये आचार्य विक्रमकी प्रायः ११ वीं शताब्दीके विद्वान् थे।

(९) वे प्रभाचंद्र जिन्हें 'प्रमेयकमलमार्तंड'की मुद्रित प्रतिके अन्तमें दिये हुए निम्न पद्यमें 'पद्मनन्दि सैद्धान्त'के शिष्य तथा 'रत्ननन्दि'के पदमें रत लिखा है, और उसके बादकी गद्यपंक्तियोंमें जिन्हें धारानिवासी तथा भोजदेव राजाके समकालीन विद्वान् सूचित किया है—

"श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।
प्रभाचंद्रश्चिरंजीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः॥

श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचंद्रपंडितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।"

ये प्रभाचंद्र 'प्रमेयकमलमार्तंड'के टीका-टिप्पणकार जान पड़ते हैं, इसीसे उक्त पद्य तथा गद्य पंक्तियां ग्रंथकी सभी प्रतियोंमें नहीं पाई जातीं *। मुद्रित प्रतिमें, प्रथम परिच्छेद्के अन्तमंगलके बाद जो सात पंक्तियाँ मूल रूपसे छप गई हैं वे साफ तौर पर उक्त मंगलपद्यकी टीका ही हैं और ग्रंथकी टीका-टिप्पणीका ही एक अंग होनेको सूचित करती हैं। इसके सिवाय मुद्रित प्रतिमें जो फुटनोट लगे हुए हैं वे सब भी प्रायः उसी टीका-टिप्पणीपरसे लिये गये हैं ‡।

यदि इन प्रभाचंद्के गुरु 'पद्मनंदिसैद्धान्त' और ८ वें नंबरवाले प्रभाचंद्रके गुरु 'अविद्धकर्ण पद्मनंदिसैद्धान्तिक' दोनों एक ही व्यक्ति हों तो ये दोनों प्रभाचंद्र भी एक ही व्यक्ति हो सकते हैं; और यदि ये प्रभाचंद्र 'चतुर्मुखदेव' के भी शिष्य हों तो ७ वें नंबरवाले प्रभाचंद्र भी इनके साथ एक ही व्यक्ति हो सकते हैं।

(१०) वे प्रभाचंद्र जो मेघचंद्रत्रैविद्यदेवके प्रधान शिष्य तथा विष्णुवर्धन राजाकी पट्टराणी 'शांतलदेवी'के गुरु थे, और शक सं० १०६८ (वि० सं० १२०३) में जिनके स्वर्गारोहणका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५० में पाया जाता है। इस स्थानके और भी कितने ही शिलालेखोंमें आपका उल्लेख मिलता है। आपके गुरु मेघचंद्रका देवलोक शक सं० १०३७ में हुआ था, ऐसा ४८ वें शिलालेखसे पाया जाता है।

(११) वे प्रभाचंद्र जिन्हें श्रवणबेल्गोलके शक सं० १११८ के लिखे हुए, शिलालेख नं० १३० में महामंडलाचार्य 'नयकीर्ति'का शिष्य लिखा है। नयकीर्तिका देहान्त शक सं० १०९९ (वि० सं० १२३४) में हो चुका था, ऐसा उक्त

---

* पूना के 'भाण्डारकर इन्स्टिटयूट' में इस ग्रंथकी जो दो प्रतियाँ देवनागरी लिपिमें मौजूद हैं उनमेंसे किसीमें भी उक्त गद्य पंक्तियाँ नहीं हैं और ८३६ नंबरकी प्रतिमें, जो विक्रम सं० १४८९ की लिखी हुई पुरानी प्रतिपरसे नकल की गई है, उक्त पद्य भी नहीं है, ऐसा पं० नाथूरामजी प्रेमी स्वयं उन प्रतियोंको देखकर सूचित करते हैं।

‡ ग्रंथके संपादक पं० वंशीधरजी शास्त्रीने, इस बातको स्वीकार करते हुए सुहृद्वर पं० नाथूरामजी पर प्रकट किया है कि जिस प्रतिपरसे यह ग्रंथ छपा है वह विस्तृत टिप्पणसहित है; और टिप्पणी जो छापी गई है वह वही है उनकी निजकी नहीं है।

स्थानके शिलालेख न० ४२ में पाया जाता है, और इस लिये ये प्रभाचंद्र विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके प्रायः पूर्वार्द्धके विद्वान् थे।

(१२) वे प्रभाचंद्र, जिन्होंने जयसिंहके राज्यमें 'पुष्पदन्त'के प्राकृत 'उत्तरपुराण' पर एक टिप्पण लिखा है और जो धारानगरीके निवासी थे। इस टिप्पणकी प्रशस्ति* इस प्रकार है—

"नित्यं तत्र तव प्रसन्नमनसा यत्पुण्यमत्यद्भुतं
यातन्तेन समस्तवस्तुविषयं चेतश्चमत्कारकः।
व्याख्यातं हि तदा पुराणममलं स्वस्पष्टमिष्टाक्षरैः
भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चंद्रार्कतारावधिः ॥ १ ॥
तत्त्वाधारमहापुराणगमनद्योती जनानंदनः
सर्वप्राणिमनःप्रभेदपटुताप्रस्पष्टवाक्यैः करैः।
भव्याब्जप्रतिबोधकः समुदितो भूभृत्प्रभाचंद्रतः
जीयाट्टिपणकः प्रचंडतरणिः सर्वार्थमग्नद्युतिः ॥ २ ॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जिताऽमलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीप्रभाचंद्रपंडितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।"

जान पड़ता है यह जयसिंह राजा, जिसके राज्यकालमें उक्त टिप्पण लिखा गया है, 'देवपालदेव' का उत्तराधिकारी था और इसे 'जैतुगिदेव' भी कहते थे। वि० सं० १२९२ और १२९६ के मध्यवर्ती किसी समयमें इसने अपने पिताका राज्यासन ग्रहण किया था और इसका राज्यकाल वि० सं० १३१२ या १३१३ तक पाया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् पं० आशाधरजीने इसी राजाके राज्यकालमें 'सागारधर्मामृत' और 'अनगारधर्मामृत' की टीकाएँ लिखी हैं।

परंतु ऊपरकी प्रशस्तिमें प्रभाचंद्रने 'धारानिवासी' के अतिरिक्त अपने लिये जिन दो विशेषणोंका प्रयोग किया है वे वही हैं जो नंबर ९ में उद्धृत की हुई प्रमेयकमलमार्तंडकी टिप्पणवाली अन्तिम गद्यपंक्तियोंमें पाये जाते हैं और इससे दोनों टिप्पणकार एक ही व्यक्ति थे ऐसा कहा जा सकता है। यदि यह

---

* यह प्रशस्ति पं० पन्नालालजी बाकलीवालने जयपुर पाटोदी मंदिरके भंडारकी २२३ नंबरकी प्रति परसे उतारी थी, ऐसा हमें उनके एक पत्र परसे माळूम हुआ, जो ४ जून १९२३ का लिखा हुआ है।

ठीक हो तब या तो यह कहना होगा कि प्रमेयकमलमार्तंडका टिप्पण राजा भोज (प्रथम) के समयमें और महापुराणका टिप्पण भोजके उत्तराधिकारी जयसिंह (प्रथम) के समयमें लिखा गया है, अथवा यह कहना होगा कि महापुराणका टिप्पण जयसिंह (द्वितीय) के समयमें और प्रमेयकमलमार्तंडका टिप्पण भोज (द्वितीय) के समयमें—वि० सं० १३४० के करीब—लिखा गया है। इसके सिवाय यह भी कहा जा सकता है कि दोनों प्रभाचंद्र धारा-निवासी होते हुए भी एक दूसरेसे भिन्न थे और उनमेंसे एकने दूसरेका अनुकरण करके ही अपने लिये उन विशेषणोंका प्रयोग किया है जो अर्थकी दृष्टिसे प्रायः साधारण हैं और कोई विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखते। उत्तर-पुराण-टिप्पणकारके अन्तिम पद्योंमें जो ऊपर उद्धृत भी किये गये हैं, प्रमेयकमलमार्तंडके अन्तिम पद्योंका * कितना ही अनुकरण पाया जाता है, और इस समानता परसे यह कहा नहीं जा सकता कि प्रमेयकमलमार्तंड ग्रंथके कर्ता प्रभाचंद्र ही उत्तरपुराणके टिप्पणकार हैं, क्योंकि इन प्रभाचंद्रके समयमें उक्त उत्तरपुराणका जन्म भी नहीं हुआ था–वह शक सं० ८८७ (वि० सं० १०२२) क्रोधन संवत्सरका बना हुआ पाया जाता है और उसमें 'वीरसेन' 'जिनसेन' का, उनके 'धवल जयधवल' नामक टीकाग्रंथों तकके साथ, उल्लेख मिलता है। इतिहासमें भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहके राज्यकी स्थिति भी बहुत कुछ संदिग्ध पाई जाती है। इन सब बातों परसे हमें तो यही प्रतीत होता है कि प्रमेयकमलमार्तंडके टिप्पणकार चाहे भोज प्रथमके समकालीन हों अथवा भोज द्वितीयके परंतु उत्तरपुराणके उक्त टिप्पणकार जयसिंह

---

* वे पद्य इस प्रकार हैं—

गंभीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतो किंचिन्मया लेशतः
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
मोहध्वान्तविनाशनो निखिलतो विज्ञानशुद्धिप्रदो
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुरः।
शिष्याब्जप्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रे परीक्षामुखा-
ज्जीयात्सोऽत्रनिबन्ध एष सुचिरं मार्तण्डतुल्योऽमलः ॥ २ ॥

द्वितीयके समकालीन ही होने चाहियें। इस विषयका और विशेष निर्णय दोनों टिप्पणोंके अच्छे अध्ययन पर अवलम्बित है।

(१३) वे प्रभाचंद्र जो प्राकृत 'भावसंग्रह' (भावत्रिभंगी) के कर्ता 'श्रुतमुनि' के शास्त्रगुरु (विद्यागुरु) थे और उक्त भावसंग्रहकी प्रशस्तिमें * जिन्हें 'सारत्रयनिपुण' आदि विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। 'सारत्रय-निपुण' विशेषणसे ऐसा मालूम होता है कि आप समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ग्रंथोंके अच्छे जानकार थे, और इसलिये इन ग्रंथोंपर प्रभाचंद्रके नामसे जिन टीकाओंका उल्लेख 'दि० जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ ×' नामकी सूचीमें, पाया जाता है वे शायद इन्हीं प्रभाचंदकी बनाई हुई हों। ये प्रभा-चंद्र विक्रमकी १३ वीं और १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे; क्योंकि अभयचंद्र सैद्धान्तकके शिष्य बालचंद्र मुनिने, जो कि उक्त श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु होनेसे आपके प्रायः समकालीन थे, शक सं० ११९५ (वि० सं० १३३०) में 'द्रव्य-संग्रह' सूत्रपर एक टीका लिखी है, जिसका उल्लेख 'कर्णाटक-कविचरित' अथवा 'कर्णाटक जैनकवि' में मिलता है। उक्त ग्रंथसूचीमें वि० सं० १३१६ का जो उल्लेख किया है वह भी आपके समयके अनुकूल पड़ता है।

(१४) वे प्रभाचंद्र जिनकी बाबत 'विद्वज्जनबोधक' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे संवत् १३०५ में भ्रष्ट होकर दिल्लीमें रक्ताम्बर हो गये थे— बादशाहकी आज्ञासे उन्होंने रक्त वस्त्र धारण कर लिये थे—और शाही मदद पाकर जिन्होंने उस समय अनेक प्रकारके मिथ्यात्व तथा कुमार्गका प्रचार किया था। इनका समय भी विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दी समझना चाहिये। इनके गुरुका नाम मालूम न होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि वे इससे पहले अथवा पीछेके उल्लखित किसी प्रभाचंद्रसे भिन्न थे या अभिन्न।

एक रक्ताम्बर प्रभाचंद्र भगवती आराधनाके टीकाकार भी हो गये हैं जिनका उल्लेख उक्त ग्रंथसूचीमें मिलता है। मालूम नहीं वे ये ही थे अथवा इनसे भिन्न।

(१५) वे प्रभाचंद्र जिन्हें, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रका-

---

* यह प्रशस्ति माणिकचंद्रग्रंथमालामें प्रकाशित 'भावसंग्रहादि' ग्रंथकी भूमिकामें प्रकाशित हुई है।

× देखो जैनहितैषी भाग ६ ठा, अंक ५–६ और ९–१०।

षित, शुभचंदकी गुर्वावली* तथा मूल (नंदी) संघकी दूसरी पट्टावलीमें रत्न-कीर्तिके पट्टशिष्य, शुभकीर्तिके प्रपट्टशिष्य, और पद्मनन्दिके पट्टगुरु लिखा है, और साथ ही निम्न पद्यके द्वारा यह भी सूचित किया है कि पूज्यपादके शास्त्रों-की व्याख्या करनेसे आपकी कीर्ति लोकमें विख्यात हुई थी—

पट्टे श्रीरत्नकीर्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र—
व्याख्या-विख्यातकीर्तिर्गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचंचुः ।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमा मानसंदायिवादो
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः: श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥

ये प्रभाचंद्र जिन ' शुभकीर्ति ' (रत्नकीर्तिके पट्टगुरु †) के पट्टशिष्य थे वे ' वनवासी ' आम्नायके थे, ऐसा उक्त गुर्वावलीसे मालूम होता है । श्रवण-

* जैनहितैषी, छठे भागके अंक ७—८ में जो ' गुर्वावली ' छपी है उसमें भी यह सब दिया हुआ है ।

† गुर्वावलीमें पहले एक स्थान पर शुभकीर्तिको ' धर्मचंद्र ' का पट्टगुरु और रत्नकीर्तिका ' प्रपट्टगुरु ' भी सूचित किया है; परंतु वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उक्त धर्मचंद्रकी बाबत यह भी लिखा है कि वे ' हमीर ' भूपाल द्वारा पूजित थे, और हमीर (हम्मीर) का राज्यकाल वि० सं० १३३८ या १३४२ से प्रारंभ होकर १३५८ तक पाया जाता है । (देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, प्रथमभाग ।) ऐसी हालतमें प्रभाचंद्रका समय विक्रमकी १५ वीं शताब्दी हो जाता है, जो पट्टावलीके समयके विरुद्ध पड़ता है और उक्त शिला-लेखके भी अनुकूल मालूम नहीं होता। क्योंकि शिलालेखमें शुभकीर्तिके प्रशिष्य रूपसे जिन ' अमरकीर्ति ' आचार्यका उल्लेख है प्रभाचंद्र उनके प्रायः समकालीन विद्वान् होने चाहियें और शिलालेखमें अमरकीर्तिकी भी दो तीन पीढ़ियोंका उल्लेख है । एक ' अमरकीर्ति ' आचार्यने वि० सं० १२४७ में ' षट्कर्मोपदेश ' नामक प्राकृत ग्रंथकी रचना की है । यदि ये वही अमर-कीर्ति हों जो शुभकीर्तिके प्रशिष्य थे तो इससे इन प्रभाचंद्रका समय और भी स्पष्ट हो जाता है । पट्टावलियों तथा गुर्वावलियोंमें, आचार्योंके नामोंका संग्रह करते हुए, नाम-साम्यके कारण कहीं कहीं पर कुछ गड़बड़ जरूर हुई है, और वह अच्छे अनुसंधानके द्वारा ही संलक्षित हो सकती है । परंतु इसके लिये गहरे अध्ययनके साथ साथ साधनसामग्रीकी सुलभताकी बड़ी जरूरत है जिसकी ओर समाजका कुछ भी ध्यान नहीं है ।

बेल्गोलके शिलालेख नं० १११ (२७४) से भी, जो शक सं० १२९५ का लिखा हुआ है, इसका समर्थन होता है । और साथ ही, यह भी पाया जाता है कि शुभकीर्तिके एक शिष्य ' धर्मभूषण ' भी थे, जिनकी शिष्यपरम्पराका इस शिलालेखमें उल्लेख है । अस्तु; ये प्रभाचंद्र भी विक्रमकी १३ वीं और १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । उक्त ४ थी किरणमें प्रकाशित नन्दिसंघकी पट्टावलीके * आचार्योंकी नामावलीमें इनके पट्टारोहणका जो समय वि० सं० १३१० दिया है संभव है कि वह ठीक ही हो अथवा इनका पट्टारोहण उससे भी कुछ पहले हुआ हो । ये आचार्य दीर्घजीवी—प्रायः सौ वर्षकी आयुके धारक—हुए जान पड़ते हैं ।

(१६) वे प्रभाचंद्र (प्रभेन्दु) मुनि जो अष्टांगयोगसम्पन्न थे और जिन्होंने ' चरित्रसार'की छह हजार श्लोकपरिमाण एक वृत्ति लिखकर (लेखयित्वा) मलधारि ललितकीर्तिके शिष्य कल्याणकीर्तिको समर्पित की थी और जिसका उल्लेख जैनसिद्धान्त भवन आरामें उक्त चारित्रसारकी कनड़ी टीकाके अन्तिम भागपर पाया जाता है । कल्याणकीर्ति वि० सं० १४८८ में मौजूद थे। उन्होंने, पांड्य नगरके गोम्मटस्वामिचैत्यालयमें रहते हुए, शक सं० १३५३ में ' यशोधरचरित्र'की रचना की है–इससे ये प्रभाचन्द्र विक्रमकी प्रायः १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान् थे ।

(१६) वे प्रभाचद्र जो ' नयसेन ' आचार्यकी संततिमें होनेवाले ' हेमकीर्ति' भट्टारकके शिष्य 'धर्मचंद्र'के पट्टशिष्य थे, और जिन्होंने, सकीट नगर (एटा जिला) में, लम्बकंचुक (लमेचू?) आम्नायके 'सकरू' साधु (साह) के पुत्र पं० सोनिकको प्रार्थनापर तत्त्वार्थसूत्रकी 'तत्वार्थरत्नप्रभाकर' नामकी टीका लिखी है । इस टीकाकी रचनाका समय कारंजाकी प्रतिमें वि० सं० १४८९ दिया हुआ है, ऐसा बाबू हीरालालजी एम० ए० सूचित करते हैं । इससे इन प्रभाचंद्रका समय भी विक्रमकी १५ वीं शताब्दी जान पड़ता है

(१८) वे प्रभाचंद्र जो शुभचंद्र भ० के पट्ट अथवा पद्मनंदिके प्रपट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले जिनचंद्र भ० के पट्टशिष्य थे, जिनका पट्टाभिषेक सम्मेदशिखर पर हुआ था, जो धर्मचद्र, धर्मकीर्ति अथवा चंद्रकीर्तिके पट्टगुरु थे और जिन्हें देवागमालंकृति, प्रमेयकमलमार्तंड तथा जैनेंद्रादिक लक्षणशास्त्रोंका ज्ञाता

* जैनहितैषी भाग छठा, अंक ७–८ में प्रकाशित ' पट्टावली ' में भी यही समय दिया है।

लिखा है * । ये प्रभाचंद्र विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे; क्यों कि उक्त जिनचंद्रके एक शिष्य पं० मेधावीने वि० सं० १५४१ में 'धर्मसंग्रह-श्रावकाचार'को बनाकर समाप्त किया है।

(१९) वे प्रभाचंद्र जिन्हें 'ज्ञानसूर्योदय' नाटकके कर्ता 'वादिचन्द्र' सूरिने अपना पट्टगुरु और ज्ञानभूषणका पट्टशिष्य लिखा है। उक्त नाटक सं० १६४८ में बनकर समाप्त हुआ है। इससे ये प्रभाचंद्र विक्रमकी प्रायः १६ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १७ वीं शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् जान पड़ते हैं।

(२०) वे सब प्रभाचंद्र जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्य हुए हैं, और जिनके पृथक् पृथक् नामोल्लेखादिकी यहाँ कोई जरूरत मालूम नहीं होती।

इन 'प्रभाचंद्र' नामके विद्वानोंमेंसे प्रथम चार विद्वानोंकी बनाई हुई यह टीका नहीं है; क्योंकि इस टीकामें 'प्रमेयकमलमार्तंड' और 'न्यायकुमुदचंद्रोदय' ग्रंथोंका उल्लेख पाया जाता है ‡ और ये चारों ही प्रभाचंद्र इन दोनों ग्रंथोंकी रचनासे पहले हो गये हैं। पहले नम्बरके प्रभाचंद्र तो मूल ग्रंथकी रचनासे भी पहलेके विद्वान् हैं। १६ वें नम्बरसे १९ वें नम्बरतकके विद्वानोंकी भी बनाई हुई यह टीका नहीं है; क्योंकि ये चारों ही प्रभाचंद्र, जो विक्रमकी १५ वीं १६ वीं और १७ वीं शताब्दियोंके विद्वान् हैं, पं० आशाधरजीसे बहुत पीछे हुए हैं और पं० आशाधरजीकी अनगारधर्मामृतटीकामें, जो वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई है, इस टीकाका निम्नप्रकारसे उल्लेख मिलता है—

यथाहुस्तत्र भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकायां 'चतुरावर्तत्रितय' इत्यादिसूत्रे 'द्विनिषद्यं' इत्यस्य व्याख्याने "देववन्दनां कुर्वता हि प्रारंभे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः" इति।

—अ० ८, पद्य नं० ९३ की टीकाका अन्तिम भाग।

---

* देखो, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित 'मूल (नन्दी) संघकी दूसरी पट्टावली' तथा 'पाण्डवपुराणकी दानप्रशस्ति;' और पिटर्सन साहबकी ४ थी रिपोर्टमें प्रकाशित 'त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रह' (नं० १३९९) तथा 'ऋषभनाथचरित्र' (नं० १४०४) की दानप्रशस्तियाँ, जो क्रमशः वि० सं० १६३२ और १७१० की लिखी हुई हैं।

‡ देखो छठे पद्यकी टीकाका निम्नवाक्य—

'तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचंद्रे च प्रपंचतः प्ररूपणात्।'

इसके सिवाय रत्नकरण्डककी इस टीकाकी एक प्रति विक्रमसंवत् १४१५ (माघ सुदि ७ रवि दिन) की लिखी हुई कारंजाके शास्त्रभंडार (बलात्कारगण-मंदिर) में मौजूद है, ऐसा उस सूचीपरसे मालूम होता है जो हालमें बा० हीरालालजी एम० ए० ने भंडारके ग्रन्थोंको स्वयं देखकर उतारी थी और हमारे पास देखनेके लिये भेजी थी। इससे यह टीका वि० सं० १४१५ के बाद होनेवाले किसी भी प्रभाचंद्रकी बनाई हुई नहीं है, इतनी बात और भी स्पष्ट हो जाती है। २० वें नम्बरमें उल्लेखित किसी श्वेताम्बर प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई भी यह टीका नहीं है; क्यों कि केवलीके कवलाहार-विषयक श्वेताम्बरोंकी मान्यताका इसमें (छठे पद्यकी टीकामें) खास तौरसे खंडन किया गया है। और भी कई बातें ऐसी हैं जिनसे यह टीका किसी श्वेताम्बर आचार्यकृत प्रतीत नहीं होती। अब देखना चाहिये कि शेष–५ से १५ नम्बर तकके–विद्वानोंमेंसे यह टीका कौनसे प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है अथवा बनाई हुई हो सकती है।—

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि यह टीका उन्हीं प्रभाचंद्राचार्य (न० ५) की बनाई हुई है जो प्रमेयकमलमार्तंड तथा न्यायकुमुदचंद्रोदयके कर्ता हैं, और अपने इस विचारके समर्थनमें वे प्रायः टीकाका निम्न वाक्य पेश करते हैं—

"तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपंचतः प्ररूपणात्।"

उनका कहना है कि इस वाक्यके द्वारा टीकाकारने, केवलिकवलाहार-विषयक प्रकृत प्रकरणको संकोचते हुए, उसके विस्तृत कथनको अपने ही बनाये हुए 'प्रमेयकमलमार्तंड' तथा 'न्यायकुमुदचंद्रोदय' नामके ग्रंथोंमें देखनेकी प्रेरणा की है। परन्तु इस वाक्यमें ऐसा कोई भी नियामक शब्द नहीं है जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि टीकाकारने इसमें अपने ही बनाये हुए ग्रंथोंका उल्लेख किया है। वाक्यका स्पष्ट आशय सिर्फ इतना ही है कि 'प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचन्द्र (चन्द्रोदय) में प्रकृत विषयका विस्तारके साथ प्ररूपण होनेसे यहाँ उसका और अधिक कथन देनेकी जरूरत नहीं है,—जो दिया गया है उसी पर संतोष किया जाता है'—उसमें ऐसा कहीं भी कुछ बतलाया नहीं गया कि वह प्ररूपणा मेरे ही द्वारा हुई है अथवा मैं ही उन ग्रन्थोंका कर्ता हूँ। हाँ, यह ठीक है कि इस प्रकारके वाक्योंद्वारा एक ग्रन्थकार अपने किसी दूसरे ग्रन्थका भी उल्लेख अपने ग्रन्थमें कर सकता है परंतु वैसे ही वाक्योंके द्वारा दूसरे विद्वानोंके ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया जाता है और अक्सर होता आया है, जिसके दो एक नमूने नीचे दिये जाते हैं—

'तथाप्तमीमांसायां व्यासतः समर्थितत्वात् ।'

'यथा चाभावैकान्तादिपक्षा न्यक्षेण प्रतिक्षिप्ता देवागमाप्तमीमांसायां तथेह प्रतिपत्तव्या इत्यलमिह विस्तरेण ।' —युक्त्यनुशासनटीका ।

'इत्यादिरूपेण कृष्णादिषड्लेश्यालक्षणं गोमट्टशास्त्रादौ विस्तरेण भणित-मास्ते तदत्र नोच्यते ।' —पंचास्तिकायटीका जयसेनीया ।

ऐसी हालतमें, विना किसी प्रबल प्रमाणकी उपलब्धिके, उक्त वाक्य मात्रसे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि यह टीका और उक्त दोनों ग्रंथ एक ही व्यक्तिके बनाये हुए हैं ।

इस टीकामें एक स्थानपर—' वरोपलिप्सया ' पद्यके नीचे ये वाक्य पाये जाते हैं—

"नन्वेवं श्रावकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लानताहेतुः प्राप्नोतीति चेत् एवमेव यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु शासनसक्तदेवता-त्वेन तासां तत्करोति तदा न म्लानताहेतुः । तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्षपाताद्वर-मयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव । तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्वि-घ्नतो झटिति न सिद्ध्यति । न हि चक्रवर्तिपरिवारापूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ।"

टीकाके इस अंशको लेकर दूसरे कुछ विद्वानोंका खयाल है कि यह टीका उन प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती जो प्रमेयकमलमार्तण्डादिक ग्रंथों-के प्रणेता हैं। उनकी रायमें, इन वाक्योंद्वारा जो यह प्रतिपादन किया गया है कि 'रागद्वेषसे मलिन शासन देवताओंका पूजनविधानादिक उस हालतमें सम्य-ग्दर्शनकी मलिनताका–उसमें दोष उत्पन्न करनेका–हेतु नहीं होता जब कि वह विना किसी वरकी इच्छाके केवल उन्हें शासनभक्त देवता समझकर किया जाता है;' और साथ ही, यह बतलाया गया है कि 'वे शासनदेवता, दर्शनमें पक्ष-पात रखने–जैनधर्मके पक्षपाती होने–के कारण उन पूजनादिक करनेवाले श्रावकोंको विना माँगे भी वर देते ही हैं, और यदि उनका पूजनादिक नहीं किया जाता किन्तु इष्टदेवताविशेष (अर्हन्तादिक) का ही पूजनादिक किया जाता है तो उस पूजनादिकसे इष्टदेवताविशेषके द्वारा शीघ्र ही निर्विघ्न रूपसे किसी फलकी सिद्धि उसी प्रकार नहीं हो पाती जिस प्रकार कि चक्रवर्तीके परिवारका पूजन न करने पर चक्रवर्तिके पाससे सेवकोंको फलकी प्राप्ति नहीं

होती,' वह सब कथन मूल ग्रंथ तथा समीचीन आगमके विरुद्ध है और युक्ति-युक्त नहीं है।

प्रमेयकमलमार्तंडादिकके रचयिता जैसे प्रौढ विद्वानोंसे वे ऐसे कथनकी अथवा इस प्रकारके निर्बल युक्तिप्रयोगकी आशा नहीं रखते और इसी लिये उनका उपर्युक्त खयाल है। इसमें संदेह नहीं कि टीकाका यह कथन बहुत कुछ आपत्तिके योग्य है और उसमें शासनदेवताओंका पूजन करनेपर फल-प्राप्तिकी जो बात कही गई है वह जैनसिद्धान्तोंकी तात्त्विक दृष्टिसे निरी गिरी हुई है और बिलकुल ही बच्चोंको बहकाने जैसी बात है। क्योंकि, चक्रवर्ति जिस प्रकार रागद्वेषसे मलिन होता है, परिमित परिवार रखता है, अपने परिवारके आदरसत्कारको देखकर प्रसन्न होता है, परिवारके लोगोंकी बात सुनता है—उनकी सिफारिश मानता है—और इच्छापूर्वक किसीका निग्रह-अनुग्रह करता है उसी प्रकारकी स्थिति अर्हन्तादिक इष्ट देवताओंकी नहीं है। उनमें चक्रवर्तिवाली बातें घटित नहीं होतीं—वे रागद्वेषसे रहित हैं, किसीकी पूजा या अवज्ञापर उनके आत्मामें प्रसन्नता या अप्रसन्नताका भाव जाग्रत नहीं होता, शासन देवता उनके साथमें कुटुम्बके तौर पर सम्बद्ध नहीं हैं, वे शासन देवताओंकी कोई सिफारिश नहीं सुनते और न स्वयं ही इच्छापूर्वक किसीका निग्रह अथवा अनुग्रह किया करते हैं—उनके द्वारा फलप्राप्तिका रहस्य* ही दूसरा है। इनके सिवाय शासन-देवता अव्रती होनेके कारण, धार्मिक दृष्टिसे, व्रतियों (श्रावकों) द्वारा पूजे जानेकी क्षमता भी नहीं रखते; धर्मका पक्ष होनेसे उन्हें स्वयं ही श्रावकोंकी—धर्ममें अपनेसे ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित व्यक्तियोंकी–पूजा करनी चाहिये, न कि श्रावकोंसे अपनी पूजा करानी चाहिये। रही लौकिक वरप्राप्तिकी दृष्टिसे पूजा, उसे टीकाकार भी दूषित ठहराते ही हैं; फिर किस दृष्टिसे उनका पूजन किया जाय, यह कुछ समझमें नहीं आता। यदि साधर्मीपनेकी दृष्टिसे अथवा जैनधर्मका पक्ष रखनेकी वजहसे ही उन्हें पूजा जाय तो सभी जैनी पूज्य ठहरते हैं; शासन देवताओंकी पूजामें तब कोई विशेषता नहीं रहती। और यह बात तो बनती ही नहीं कि कोई शासनदेवता कर्मसिद्धान्तको उलट देने या कर्मसिद्धान्तके अनु-

---

* इस फलप्राप्तिके रहस्यका कुछ अनुभव प्राप्त करनेके लिये लेखकके लिखे हुए 'उपासनातत्त्व'को देखना चाहिये, जो जैन-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

कूल किसी व्यक्तिको उसके कर्मका फल न होने देनेका सामर्थ्य रखता हो, अथवा यों कहिये कि परम भक्तिभावसे की हुई अर्हन्तदेवकी पूजाके अवश्यंभावी फलको, वह अपनी पूजा न होनेके कारण रोक सकता हो। इस लिये शासनदेवताओंकी पूजाके समर्थनमें उक्त युक्तिप्रयोग निर्बल तथा असमीचीन जरूर है और उसे समाजमें उस समय प्रचलित शासनदेवताओंकी पूजाका मूल ग्रंथके साथ सामंजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न मात्र समझना चाहिये। परंतु किसीकी श्रद्धाका विषय ही यदि निर्बल हो तो उसे उसके समर्थनार्थ निर्बल युक्तियोंका प्रयोग करना ही पड़ेगा, और इस लिये केवल इन वाक्योंपरसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तंडादिके कर्त्ता प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं है, अथवा नहीं हो सकती। उसके लिये उक्त आचार्य महोदयके माने हुए ग्रंथों (प्रमेयकमलमार्तंडादिक) परसे यह दिखलानेकी जरूरत है कि उनके विचार इस शासनदेवताओंकी पूजाके विरुद्ध थे अथवा ग्रंथके साहित्यकी जाँच, आदि दूसरे मार्गोंसे ही यह सिद्ध किया जाना चाहिये कि यह टीका उन आचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती। अभीतक ऐसी कोई बात सामने नहीं आई जिससे शासन देवताओंकी पूजाके विषयमें इन आचार्यकी श्रद्धा तथा विचारोंका कुछ हाल मालूम हो सके और इस लिये दूसरे मार्गोंसे ही अब इस बातके जाँचनेकी जरूरत है कि यह टीका उनकी बनाई हुई हो सकती है या कि नहीं।

प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचंद्र भी, दोनों टीकाग्रंथ हैं—एक श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यके 'परीक्षामुख' सूत्रकी वृत्ति है तो दूसरा भट्टाकलंकदेवके 'लघीयस्त्रय' ग्रंथकी व्याख्या। इन टीकाओंका 'रत्नकरण्डक'की इस टीकाके साथ जब मीलान किया जाता है तो दोनोंमें परस्पर बहुत बड़ी असमानता पाई जाती है। एककी प्रतिपादनशैली—कथन करनेका ढंग—और साहित्य दूसरेसे एकदम भिन्न है, दोनोंके आदि अन्तके पद्योंमें भी परस्पर कोई सादृश्य नहीं देखा जाता, रत्नकरण्डकटीकाके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें प्रतिपादित विषयकी सूचनादि रूपसे कोई पद्य भी नहीं हैं, प्रमेयकमलमार्तंडादिकमें साहित्यकी प्रौढता और अर्थगंभीरतादिकी जो बात पाई जाती है वह इस टीकामें नहीं है, और यह बात तो बहुत ही स्पष्ट है कि यह टीका विवेचनोंसे प्रायः शून्य है, जब कि प्रमेय कमलमार्तण्डादिक टीकाएँ प्रायः प्रत्येक विषयके विवेचनोंको लिये हुए हैं और इस टीकाकी तरह शब्दानुवादका अनुसरण करनेवाली अथवा उसीपर अपना प्रधान लक्ष रखनेवाली नहीं हैं। दोनोंकी इस सब विभि-

नताका अच्छा अनुभव इन टीकाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे सहजहीमें हो सकता है और इस लिये यहाँपर इस विषयको अधिक तूल (विस्तार) देनेकी जरूरत नहीं है। जिन विद्वानोंने तुलनात्मक दृष्टिसे इन टीकाओंका अध्ययन किया है वे स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं कि दोनोंमें परस्पर बहुत बड़ी असमानता है। पंडित वंशीधरजी शास्त्रीने भी, प्रमेयकमलमार्तण्डका सम्पादन करते हुए, उसके 'उपोद्घात'में लिखा है कि इस टीकाकी रचनातरंगभंगी प्रमेयकमलमार्तंडकी रचनातरंगभंगीसे 'विसदृशी' है*—उसके साथ समानता अथवा मेल नहीं रखती। ऐसी हालतमें विज्ञ पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं कि जब इन टीकाओंमें परस्पर इतनी अधिक असमानता पाई जाती है तो ये तीनों टीकाएँ एक ही व्यक्तिकी बनाई हुई कैसे हो सकती हैं; और साथ ही, इस बातका भी अनुभव कर सकते हैं कि यदि यह टीका उन्हीं प्रमेयकमलमार्तण्डादिके रचयिता जैसे प्रौढ विद्वानाचार्यकी बनाई हुई होती तो इसमें, प्रमेयकमलमार्तंडादिक जैसी कोई खास खूबी अवश्य पाई जाती—कमसे कम यह श्रावकधर्मके अच्छे विवेचनको जरूर लिये हुए होती जिससे वह इस समय प्रायः शून्य प्रतीत होती है। और साथ ही, इसमें प्रायः वे अधिकांश त्रुटियाँ भी न होतीं जिनका पहले कुछ दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

जहाँ तक हमने इस टीकाके साहित्यकी जाँच की है उस परसे हमें यह टीका इन प्रमेयकमलमार्तंडादिके कर्ता प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई मालूम नहीं होती; इसकी रचना प्रमेयकमलमार्तंडादिकी रचनासे बहुत पीछे—कई शताब्दियोंके बाद—हुई जान पड़ती है। नीचे इसी बातको कुछ विशेष प्रमाणोंद्वारा स्पष्ट किया जाता है—

१. इसी टीकामें एक स्थानपर—'नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः' इत्यादि पद्यके नीचे, 'सप्तगुणसमाहितेन' पदकी व्याख्याके अवसरपर, एक पद्य निम्न प्रकारसे उद्धृत पाया जाता है—

---

* यथा—'रत्नकरण्डकाभिधस्य श्रीसामन्तभद्रीयश्रावकाचारस्य बृहत्स्वयंभूस्तोत्रस्य, समाधिशतकस्य चोपरि विवरणानि श्रीप्रभाचन्द्रेणैव विनिर्मितानि सन्ति किन्तु तेषां प्रणेता स एवापरो वा प्रभाचन्द्रस्तदनन्तरलब्धजन्मेति न पार्यतेऽवधारयितुमलं तथापि प्रमेयकमलमार्तण्डापेक्षया तद्वृत्तीनां रचनातरङ्गभङ्गो विसदृशीति वक्तुमुत्सहे।'

"श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमाशक्तिः[1] ।
यस्यैते[2] सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥"
"इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं ।"

यह पद्य, जिसमें दाताके सप्तगुणोंका उल्लेख है, और जिसके अनन्तर ही उक्त टीकावाक्यद्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि 'इन सप्त गुणोंसे युक्त दातारके द्वारा दान दिया जाना चाहिये,' यशस्तिलक ग्रंथके ४३ वें 'कल्प' का पद्य है। यशस्तिलक ग्रंथ, जिसे 'यशोधरमहाराजचरित' भी कहते हैं सोमदेवसूरिका बनाया हुआ है और शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में बनकर समाप्त हुआ है। इससे यह टीका 'यशस्तिलक' से बादकी अथवा यों कहिये कि प्रमेयकमलमार्तंडसे प्रायः अढाईसौ वर्षसे भी पीछेकी बनी हुई है, ऐसा कहनेमें कोई संकोच नहीं होता।

२. 'दुःश्रुति' अनर्थदण्डका स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले 'आरंभसंग' नामक पद्यकी टीकाका एक अंश इस प्रकार है—

"आरंभश्च कृष्यादिः संगश्च परिग्रहः तयोः प्रतिपादनं वार्ता नीतौ विधीयते 'कृषिः पशुपाल्यं[3] वाणिज्यं[4] च वार्ता' इत्यभिधानात्।

इसमें 'वार्ता'का जो लक्षण ग्रंथान्तरसे उद्धृत किया है और जिसके उद्धरणकी बातको 'इत्याभिधानात्' पदके द्वारा सूचित भी किया है वह 'नीतिवाक्यामृत' ग्रंथके 'वार्तासमुद्देश' का प्रथम सूत्र है। 'नीतौ विधीयते' इस वाक्यसे भी नीतिग्रंथको सूचित करनेकी ध्वनि निकलती है। यह 'नीतिवाक्यामृत' उन्हीं सोमदेवाचार्यका बनाया हुआ है जो यशस्तिलकके कर्ता हैं और इसकी रचना यशस्तिलक ग्रंथसे भी पीछे हुई है; क्योंकि इसकी प्रशस्तिमें 'यशोधरमहाराजचरित' के रचे जानेका उल्लेख है। इससे यह टीका 'नीतिवाक्यामृत' से भी बादकी बनी हुई है।

---

१ इसके स्थानपर 'सत्यं' पाठ गलतीसे मुद्रित हो गया मालूम होता है; अन्यथा इन गुणोंमें सत्यगुणका समावेश नहीं है।

२ 'यत्रैते' ऐसा भी पाठान्तर देखा जाता है।

३ 'पशुपालनं' यह पाठान्तर है और यही ठीक मालूम होता है।

४ 'वणिज्या' यह पाठान्तर है और यह भी ठीक जान पड़ता है।

३. 'नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः' इत्यादि दानस्वरूपप्रतिपादक पद्यकी टीकामें, 'दानं दातव्यं कैः कृत्वा नवपुण्यैः' इन शब्दोंके साथ (अनन्तर) नीचे लिखी गाथा उद्धृत की गई है, और उसके बाद ही 'एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः' ये शब्द दिये हैं, और इस तरहपर 'नवपुण्यैः' पदकी व्याख्या की गई है—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं॥

यह गाथा वसुनन्दि आचार्यके उस 'उपासकाध्ययन' शास्त्रकी है जिसे 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' भी कहते हैं और उसमें नं० २२४ पर पाई जाती है। जान पड़ता है टीकाकारने इसमें मूलके अनुरूप ही 'नवपुण्यं' संज्ञाका प्रयोग देखकर इसे यहाँ पर उद्धृत किया है; अन्यथा, वह यशस्तिलकके 'श्रद्धा तुष्टिः' इत्यादि पद्यको उद्धृत करते हुए उसके साथके दूसरे 'प्रतिग्रहोच्चासन'* पद्यको भी उद्धृत कर सकता था। परंतु उसमें इन ९ बातोंको 'नवोपचार' संज्ञा दी है जिसका यहाँ 'नवपुण्यैः' पदकी व्याख्यामें मेल नहीं था। इसके सिवाय और भी कुछ विशेषता थी। इस लिये टीकाकारने जानबूझकर उसे छोड़ा और उसके स्थान पर इस गाथाको देना पसंद किया है। अस्तु; अब देखना चाहिये कि जिन वसुनन्दि सैद्धान्तिकके ग्रंथकी यह गाथा है वे कब हुए हैं। वसुनन्दिने मूलाचार ग्रंथकी अपनी 'आचारवृत्ति' टीकाके आठवें परिच्छेदमें, कायोत्सर्गके चार भेदोंका वर्णन करते हुए, 'त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता......इत्यादि पाँच श्लोक 'उक्तं च' रूपसे दिये हैं और उनके अन्तमें लिखा है कि 'उपासकाचारे उक्तमास्ते' अर्थात्, यह कथन 'उपासकाचार' का है। यह उपासकाचार ग्रंथ जिसके आठवें परिच्छेदमें उक्त पाँचों श्लोक उसी क्रमको लिये नं० ५७ से ६१ तक पाये जाते हैं, श्रीअमितगति आचार्यका बनाया हुआ है, जो विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् थे और जिन्होंने वि० सं० १०७० में अपने 'धर्मपरीक्षा' ग्रंथको बनाकर समाप्त किया है। 'उपासकाचार' भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ ग्रंथ है। इससे वसु-

---

* यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः।
विद्याविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन॥

नन्दि आचार्य प्रायः वि० सं० १०७० के बाद हुए हैं, इस कहनेमें कुछ भी दिक्कत नहीं होती। परंतु कितने समय बाद हुए हैं, यह बात अभी नहीं कही जा सकती। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे पं० आशाधरजीसे पहले हुए हैं; क्योंकि पं० आशाधरजीने अपने 'सागरधर्मामृत' की स्वोपज्ञ टीकामें, जो वि० सं० १२९६ में बन कर समाप्त हुई है, वसुनन्दि श्रावकाचारकी 'पंचुंबरसहियाई' नामकी गाथाका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'इति वसुनन्दिसैद्धान्तिमतेन दर्शनप्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येदं। तन्मतेनैव व्रतप्रतिमां बिभ्रतो ब्रह्माणुव्रतं स्यात्तद्यथा—' पव्वेसु इत्थिसेवा...... ।'

इसके सिवाय, 'अनगारधर्मामृत' की टीकामें, जो वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई है, वसुनन्दिकी आचारवृत्तिका भी आशाधरजीने निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

'एतच्च भगवद्वसुनन्दिसैद्धान्तदेवपादैराचारटीकायां 'दुओ णदं जहाजादं' इत्यादिसूत्रे व्याख्यातं द्रष्टव्यं।'

ऐसी हालतमें वसुनन्दि आचार्य वि० सं० १०७० और १२९६ के मध्यवर्ती किसी समयके-विक्रमकी प्रायः १२ वीं या १३ वीं शताब्दीके-विद्वान् होने चाहिये। आपने अपने श्रावकाचारमें जो गुरुपरम्परा दी है उससे मालूम होता है कि आप 'नेमिचंद्र' के शिष्य और 'नयनन्दी' के प्रशिष्य थे, और नयनंदी 'श्रीनंदी'के शिष्य थे। श्रीनंदीको दिये हुए कुछ दानोंका उल्लेख गुडिगेरिके टूटे हुए एक कनडी शिलालेख* में पाया जाता है, जो शक संवत् ९९८ का लिखा हुआ है, और इससे मालूम होता है कि 'श्रीनंदी' वि० सं० ११३३ में भी मौजूद थे। ऐसी हालतमें आपके प्रशिष्य (नेमिचंद) के शिष्य 'वसुनन्दी'का समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका प्रायः अन्तिम भाग और संभवतः १३ वीं शताब्दीका प्रारंभिक भाग भी अनुमान किया जाता है और इस लिये यह टीका जिसमें वसुनन्दीके वाक्यका उल्लेख पाया जाता है विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी—प्रमेयकमलमार्तंडसे प्रायः चारसौ वर्ष पीछेकी—बनी हुई जान पड़ती है और कदापि प्रमेयकमलमार्तंडादिके कर्ता प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती।

---

* देखो, इंडियन ऐंटिकेरी, जिल्द १८, पृष्ठ ३८, Ind. Ant., XVIII, P. 38

४. 'धर्मामृतं सतृष्णः' इत्यादि पद्यकी टीकामें, 'ज्ञानध्यानपरः' पदकी व्याख्या करते हुए, नीचे लिखे दो पद्य उद्धृत किये गये हैं—

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ १ ॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ २ ॥

ये दोनों पद्य 'पद्मनन्दि-उपासकाचार' के पद्य हैं, जो 'पद्मनन्दिपंचविंशति' में संगृहीत भी पाया जाता है । इस उपासकाचारके कर्ता श्रीपद्मनन्दि आचार्य पं० आशाधरजीसे पहले हो गये हैं।* उन्हें विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान् समझना चाहिये । वे उन शुभचन्द्राचार्यके शिष्य थे जिनका देहावसान शक सं० १०४५ (वि० सं० ११८०) में हुआ है + । इनका बनाया हुआ 'एकत्वसप्तति' नामका भी एक ग्रंथ है जो 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' में 'एकत्वाशीति' के नामसे संगृहीत है × । 'नियमसार'की पद्मप्रभ-मलधारिदेव-विरचित टीकामें इस ग्रंथके कितने ही पद्य, 'तथाचोक्तमेकत्वसप्ततौ' इस वाक्यके साथ, उद्धृत हैं और वे सब उक्त 'एकत्वाशीति' में ज्योंके त्यों पाये जाते हैं । 'एकत्वाशीति'के निम्न पद्यमें भी इस ग्रंथका नाम 'एकत्वसप्तति' ही दिया है—

एकत्वसप्ततिरियं सुरसिन्धुरुच्चैः
श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता ।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टा—
मेतां लभेत स नरः परमां विशुद्धिम् ॥ ७७ ॥

जान पड़ता है 'एकत्वसप्तति'की पृथक् प्रतियोंमें कोई विशेष प्रशस्ति भी लगी हुई है जिसमें 'निम्ब' सामन्तको 'सामन्तचूडामणि' के तौर पर उल्लेखित किया है । इसीसे, 'इंस्क्रिप्शन्स एट् श्रवणबेल्गोल' (एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द दूसरी) के द्वितीय संस्करण (सन् १९२३) की प्रस्तावना-

---

* पं० आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकाके ९ वें अध्यायमें, 'अत एव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमभिदधे' इस वाक्यके साथ आपके 'म्लाने क्षालनतः' इत्यादि पद्यको उद्धृत किया है जो पद्मनन्दिपंचविंशतिके अन्तर्गत 'यत्याचारधर्म' नामके प्रकरणमें पाया जाता है ।

+ देहावसानके इस समयके लिये देखो श्रवणबेल्गोलका शिलालेख नं० ४३ (११७) ।

× देखो, गांधी बहालचंद कस्तूरचंद धाराशिवकी ओरसे शक सं० १८२० में प्रकाशित 'पद्मनंदिपंचविंशति' ।

में, प्राक्तन–विमर्ष–विचक्षण राव बहादुर मिस्टर आर. नरसिंहाचार एम. ए. लिखते हैं कि—

He (Nimba Sâmanta) is praised as the crest jewel of Sâmantas in the Ekatvasaptati of Padmnandi a deciple of Subhachandra who died in 1123.

अर्थात्—जिन शुभचन्द्रका ईसवी सन् ११२३ (शक सं० १०४५ वि० सं० ११८०) में देहान्त हुआ है उनके शिष्य पद्मनन्दिकी बनाई हुई 'निम्ब' सामन्तकी ' सामन्त–चूडामणि ' के तौर पर प्रशंसा की गई है।

इससे पद्मनंदिका उक्त उपासकाचार वि० सं० ११८० के करीबका बना हुआ मालूम होता है। उसके वाक्योंका उल्लेख करनेसे भी यह टीका विक्रम की १३ वीं शताब्दीकी बनी हुई सिद्ध होती है। विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए किसी ग्रंथमें इसका उल्लेख मिलता भी नहीं।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है और इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तंडादिके रचयिता प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं है और न हो सकती है। इसमें केवलीके कवलाहार विषयका कुछ कथन जरूर प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचंद्रके आधारपर उनके कुछ वाक्योंको लेकर किया गया है और इसीसे विशेष कथनके लिये उन ग्रंथोंको देखनेकी प्रेरणा की गई है। परन्तु उनके उल्लेखसे टीकाकारका यह आशय कदापि नहीं है कि वे ग्रंथ उसीके बनाये हुए हैं।

जब कि यह टीका विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी—संभवतः इस शताब्दीके मध्यकालकी—बनी हुई पाई जाती है तब यह सहजहीमें कहा जा सकता है कि यह टीका उन दूसरे प्रभाचंद्र नामके आचार्योंकी भी बनाई हुई नहीं है जिनका उल्लेख ऊपर ६ से १० नम्बर तक किया गया है और जो १३ वीं शताब्दीसे पहलेके विद्वान् हैं। अब देखना चाहिये कि शेष ११ से १५ नम्बर तकके विद्वानोंमें यह कौनसे प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई प्रतीत होती है। १४ वें नम्बरके रक्ताम्बर प्रभाचंद्रकी बनाई हुई तो यह प्रतीत नहीं होती; क्योंकि इसमें आचारभ्रष्टताको पुष्ट करनेवाली कोई खास बात नहीं देखी जाती। ११ वीं प्रतिमावाले उत्कृष्ट श्रावकके कथनमें, 'चेलखण्डधरः' * पदकी व्याख्या करते हुए, यह तक भी नहीं लिखा कि वह वस्त्र ' रक्त ' होना चाहिये, और जिसका

* इस पदकी व्याख्यामें ' कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिंगधारीत्यर्थः' इतना ही लिखा है।

वहाँ सहजहीमें विधान किया जा सकता था; जैसा कि पं० मेधावीने, अपने 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' में 'रक्तकौपीनसंग्राही' पदके द्वारा उसका विधान कर दिया है। यदि यह कहा जाय कि वे प्रभाचंद्र तो सं० १३०५ में ही भ्रष्ट होकर रक्ताम्बर हुए थे, उससे पहले तो वे भ्रष्ट नहीं थे, और यह टीका सं० १३०० से भी पहलेकी बनी हुई है, इस लिये भ्रष्ट होनेसे पहलेकी यह उनकी कृति हो सकती है, सो ऐसे होनेकी संभावना अवश्य है; परंतु एक तो इन प्रभाचंद्रके गुरु अथवा पट्टगुरुका नाम मालूम न होनेसे इनकी पृथक् सत्ताका कुछ बोध नहीं होता—'विद्वज्जनबोधक' में दिल्लीके उस बादशाहका नाम तक भी नहीं दिया जिसकी आज्ञासे इन्होंने रक्तवस्त्र धारण किये थे अथवा जिसकी इन्हें खास सहायता प्राप्त थी। हो सकता है कि उक्त १३०५ संवत् किसी किंवदन्तीके आधारपर ही लिखा गया हो और वह ठीक न हो। दूसरे, भ्रष्ट होनेके बाद भी वे अपनी पूर्व कृतिमें, अपने तात्कालिक विचारोंके अनुसार, कितना ही उलट फेर कर सकते थे और वह इस टीकाकी अधिकांश प्रतियोंमें पाया जाता। परंतु ऐसा नहीं है, इस लिये यह टीका उन भ्रष्ट हुए रक्ताम्बर प्रभाचंद्रकी बनाई हुई मालूम नहीं होती। बाकीके चार प्रभाचंद्रोंमेंसे ११ वें और १३ नम्बरके प्रभाचंद्र तो दक्षिण भारतके—कर्णाटक देशके—विद्वान् जान पड़ते हैं और वे दोनों एक भी हो सकते हैं; क्योंकि १३ वें नम्बरवाले प्रभाचंद्रके गुरुका नाम मालूम नहीं हो सका—संभव है कि वे 'नयकीर्ति'के शिष्य ही हों। रहे १२ वें और १५ वें नम्बरवाले प्रभाचंद्र, वे उत्तर भारतके विद्वान् थे और वे भी दोनों एक व्यक्ति हो सकते हैं; क्योंकि १२ वें नम्बरवाले धारानिवासी प्रभाचंद्रके गुरुका भी नाम मालूम नहीं हो सका—संभव है कि वे अजमेरके * पट्टाधीश 'रत्नकीर्ति' के पट्टशिष्य ही हों, और यह भी संभव है कि धारामें वे किसी दूसरे आचार्यके शिष्य अथवा पट्टशिष्य रहे हों, वहाँ अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की हो और बादको अजमेरकी गद्दीके भी किसी तरह पर अधीश्वर बन गये हों। और इसीसे आप अपना पूर्वप्रसिद्धि-मय परिचय देनेके लिये उस वक्तसे अपने नामके साथ 'धारानिवासी' विशेषण लिखने लगे हों।

---

* रत्नकीर्ति अजमेरके पट्टाधीश थे, इसके लिये देखो इण्डियन ऐंटिक्वेरीमें प्रकाशित नन्दिसंघकी पट्टावलीके आचार्योंकी वह नामावली जो जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित हुई है।

इस पिछली बातकी संभावना अधिक पाई जाती है। धारामें बराबर उस समय विद्वान् आचार्योंका सद्भाव रहा है। पं० आशाधरजीने धारामें रहते हुए, धरसेनाचार्यके शिष्य महावीराचार्यसे जैनेन्द्रव्याकरणादि ग्रंथोंको पढ़ा था। आश्चर्य नहीं जो ये महावीराचार्य ही इन धारानिवासी प्रभाचंद्रके गुरु हों अथवा वह गुरुत्व उनके किसी शिष्यको प्राप्त हो। अस्तु। हमारी रायमें यह टीका १५ वें नम्बरके उन प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई मालूम होती है जिन्हें 'गुर्वावली'में पूज्यपादीय शास्त्रकी व्याख्या करनेवाले लिखा है। श्रीपूज्यपाद आचार्यके 'समाधितंत्र' ग्रंथपर, जिसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं, प्रभाचंद्राचार्यकी एक टीका मिलती है और वह मराठी अनुवाद सहित सन् १९१२ में प्रकाशित भी हो चुकी है। उस टीकाके साथ जब इस टीकाका मीलान किया जाता है तब दोनोंमें बहुत बड़ा सादृश्य पाया जाता है। दोनोंकी प्रतिपादनशैली, कथन करनेका ढंग और साहित्यकी दशा एक जैसी मालूम होती है। वह भी इस टीकाकी तरह प्रायः शब्दानुवादको ही लिये हुए है। दोनोंके आदि अन्तमें एक एक ही पद्य है और उनकी लेखनपद्धति भी अपने अपने प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे समान पाई जाती है। नीचे इस सादृश्यका अनुभव करनेके लिये कुछ उदाहरण नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं—

(१) दोनों टीकाओंके आदि मंगलाचरणके पद्य इस प्रकार हैं—

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवंद्यम्।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरं ॥ १ ॥

—समाधिशतकटीका।

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डकं परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

—रत्नकरण्डकटीका।

ये दोनों पद्य इष्ट देवको नमस्कारपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हैं, दोनोंमें प्रकारान्तरसे ग्रंथकर्ता * और मूल ग्रंथको भी स्तुतिका विषय बनाया गया है और उनके अप्रतिमप्रबोधं—निखिलात्मबोधनं तथा निर्वाणमार्गं—

* पहले पद्यमें 'जिनेन्द्र' पदके द्वारा ग्रंथकर्ताका नामोल्लेख किया गया है; क्योंकि पूज्यपादका 'जिनेन्द्र' अथवा 'जिनेन्द्रबुद्धि' भी नामान्तर है। और 'विबुधेन्द्रवंद्यं' पद पूज्यपादनामका भी द्योतक है।

अखिलकर्मशोधनं, इत्यादि कुछ विशेषण भी, अर्थकी दृष्टिसे परस्पर मिलते जुलते हैं।

(२) मंगलाचरणके बाद दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह। —समाधिशतकटीका।

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादि-रत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरि-समाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।

—रत्नकरण्डकटीका।

इन दोनों प्रस्तावनावाक्योंमें कितनी अधिक समानता है उसे बतलानेकी भी जरूरत नहीं है। वह स्वतः स्पष्ट है।

(३) समाधिशतककी टीकामें उसके प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया है—

अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपायः उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम्।

और रत्नकरण्डककी टीकामें प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया हुआ है—

अत्र पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः उत्तरार्द्धेन च सर्वज्ञतोक्ता।

इससे स्पष्ट है कि दोनों टीकाओंके कथनका ढंग और शब्दविन्यास एक जैसा है।

(४) दोनों टीकाओंमें 'परमेष्ठी' पदकी जो व्याख्या की गई है वह एक ही है। यथा—

परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः।

—समाधिशतकटीका।

परमे इन्द्रादीनां वंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी।

—रत्नकरण्डकटीका।

(५) दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं—

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपादपूज्योऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः॥

—समाधिशतकटीका।

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः ॥

—रत्नकरण्डकटीका।

इन दोनों पद्योंमें, अपने अपने ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयका सारांश देते हुए, जिस युक्तिसे जिनदेव, ग्रंथकार (श्रीपादपूज्य, समन्तभद्रमुनि), ग्रंथ (समाधिशतक, रत्नकरण्डक) और टीकाकार (प्रभेन्दु=प्रभाचंद्र) को आशीर्वाद दिया गया है वह दोनोंमें बिलकुल एक ही है, दोनोंकी प्रतिपादनशैली अथवा लेखनपद्धतिमें जरा भी भेद नहीं है, छंद भी दोनोंका एक ही है और दोनोंमें येन, जिनः, श्रीमान्, प्रभेन्दुः, सः, जीयात्, पदोंकी जो एकता और कीर्तितः प्रकटितः आदि पदोंके प्रयोगकी जो समानता पाई जाती है वह मूल पद्योंपरसे प्रकट ही है, उसे और स्पष्ट करके बतलानेकी कोई जरूरत नहीं है।

सादृश्यविषयक इस सब कथन परसे पाठक सहजहीमें अनुमान कर सकते हैं कि ये दोनों टीकाएँ एक ही विद्वानकी बनाई हुई हैं और वे विद्वान् वही प्रतीत होते हैं जिन्हें, उक्त गुर्वावलीमें 'पूज्यपादीयशास्त्रव्याख्याविख्यातकीर्तिः विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात्, रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचंद्र। इन प्रभाचंद्रके पट्टारोहणका जो समय (वि० सं० १३१०) पट्टावलीमें दिया है यदि वह ठीक हो तो, ऐसी हालतमें, यह कहना होगा कि यह टीका उन्होंने इस पट्टारोहणसे पहले धारामें किसी दूसरे आचार्यके पद पर रहते हुए बनाई है, और इसकी रचना या तो वि० सं० १२९२ के बाद और १३०० से पहले, जयसिंह द्वितीयके राज्यमें, हुई है और या उससे भी कुछ पहले जयसिंहके पिता देवपालदेवके राज्यमें हुई जान पड़ती है, जिसके राज्यका * पता वि० सं० १२७५ से १२९२ तक चलता है। पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १२९६ में बनाकर समाप्त की है, उसमें इस टीकाका कहीं पर भी कोई उल्लेख नहीं है परंतु वि० सं० १३०० में बनी हुई आपकी अनगारधर्मामृतकी टीकाके पिछले भागमें इसका उल्लेख जरूर पाया जाता है। इस परसे यह कहा जा सकता है कि सं० १२९६ से पहले या तो यह टीका

* देखो, 'भारतके प्राचीन राजवंश,' प्रथम भाग, पृ० १६०,१६१।

बनी ही नहीं और या वह पं० आशाधरजीको देखनेको नहीं मिली। अन्यथा, वे इसका उल्लेख अपने सागारधर्मामृतकी टीकामें जरूर करते—कमसे कम इस टीकाकी शासनदेवताओंकी पूजावाली युक्तिको तो अवश्य ही स्थान देते, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है,—परन्तु उक्त पूजाके समर्थनमें उसे स्थान देना तो दूर रहा, उन्होंने उलटा पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिये भी शासन देवताओंकी पूजाका निषेध किया है और साफ लिख दिया है कि वह आपदा-ओंसे आकुलित (बेचैन) होने पर भी कभी उनकी पूजा नहीं करता, किन्तु पंचपरमेष्ठिके चरणोंमें ही एक मात्र दृष्टि रखता है, यथा—

"परमेष्ठिपदैकधीः परमेष्ठिपदेषु अर्हदादिपंचगुरुचरणेषु एका धीरन्तर्दृष्टिर्यस्य। आपदाकुलितोपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते।"

इसके सम्बंधमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि शासन देवताओंकी पूजावाली युक्तिका उल्लेख न करना इस बातका कोई नियामक अथवा लाजिमी नतीजा नहीं है कि यह टीका आशाधरजीको उस वक्त देखनेको नहीं मिली थी; क्योंकि बादमें देखनेको मिल जाने पर भी उन्होंने अनगारधर्मामृतकी टीकामें उस युक्तिका कोई उल्लेख नहीं किया; बल्कि नीचे लिखे पद्यकी व्याख्या करते हुए शासन देवताओंको कुदेवोंमें परिगणित करके उन्हें श्रावकोंके द्वार अवन्दनीय (वन्दना किये जानेके अयोग्य) ठहराया है—

श्रावकेनापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः।
कुलिंगिनः कुदेवाश्च न वंद्याः सोपि संयतैः॥

टीका—.........कुलिंगिनस्तापसादयः पार्श्वस्थादयश्च। कुदेवा रुद्रादयः शासनदेवतादयश्च। ......

ऐसी हालतमें यही खयाल होता है कि आशाधरजीने उक्त युक्तिको बिल-कुल ही निःसार तथा पोच और अपने मंतव्यके विरुद्ध समझा है और इसी लिये अपनी किसी भी टीकामें उसे उद्धृत नहीं किया। परंतु फिर भी सागार-धर्मामृतकी टीकामें इस टीकाका कुछ भी उल्लेख न होना—कमसे कम मतान्तरको प्रदर्शित करनेके तौर पर ही यह भी न दिखलाया जाना कि प्रभाचन्द्रने, दूसरे आचार्योंके मतसे एक दम भिन्न, इस टीकामें, ११ प्रतिमाओंको सल्लेखनानु-ष्ठाता श्रावकके ११ भेद बतलाया है—कुछ संदेह जरूर पैदा करता है। और इस लिये आश्चर्य नहीं जो यह टीका वि० सं० १२९६ से पहले बन ही न पाई हो। अथवा बन जाने और देखनेको मिल जाने पर यह भी हो सकता है कि

धाराके इलाकेमें रहते हुए धाराके भट्टारकोंसे उपकृत और प्रभावित होनेके कारण उनकी इस तात्कालिक कृतिकी किसी गलत बातको लेकर उसका प्रत्यक्ष रूपसे विरोध करना आशाधरजीने अपने शिष्टाचार तथा नीतिके विरुद्ध समझा हो। परंतु कुछ भी सही, १२९६ से पहले ही या पीछे दोनों ही हालतोंमें यह टीका पं० आशाधरजीके समयकी बनी हुई प्रतीत होती है।

हाँ यदि 'समाधिशतक' की उक्त टीका रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य या धारा-निवासी प्रभाचंद्रकी बनाई हुई न हो, अथवा रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचंद्रके सम्बंधमें गुर्वावली और पट्टावलीका यह उल्लेख ही गलत हो कि उन्होंने पूज्य-पादीय शास्त्रकी व्याख्या करके प्रसिद्धि प्राप्त की थी, तो फिर यह टीका 'नय-कीर्ति'के शिष्य ११ वें नम्बरके प्रभाचंद्र, अथवा 'श्रुतमुनि'के विद्यागुरु १३ वें नम्बरके प्रभाचंद्र की बनाई हुई होनी चाहिये। दोनोंका समय भी प्रायः एक ही है। अस्तु, यह टीका इन चारों प्रभाचंद्रमेंसे चाहे जिसकी बनाई हुई हो परन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि यह विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी बनी हुई नहीं है।

यहाँपर इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि डाक्टर भाण्डारकर तथा पिटर्सन साहबकी बाबत यह कहा जाता है कि उन्होंने इस टीकाको वि० सं० १३१६ में होनेवाले प्रभाचंद्रकी बनाई हुई लिखा है। यद्यपि, इन विद्वानोंकी वे रिपोर्टें हमारे सामने नहीं हैं और न यही मालूम हो सका कि इन्होंने उक्त प्रभाचंद्रको कौनसे आचार्यका शिष्य लिखा है जिससे विशेष विचारको अवसर मिलता; फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उनके इस लिखनेका यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि उन्होंने इस टीकाको वि० सं० १३१६ की बनी हुई लिखा है अथवा इसके द्वारा यह सूचित किया है कि वि० सं० १३१६ से पहलके वर्षोंमें इन प्रभाचंद्रका अस्तित्व था ही नहीं। हो सकता है कि इन प्रभाचंद्रके बनाये हुए किसी ग्रंथकी प्रशस्तिमें उसके रचे जानेका स्पष्ट समय सं० १३१६ दिया हो और उसीपरसे उन्हें १३१६ में होनेवाले प्रभाचंद, ऐसा नाम दिया गया हो। १५ वें नम्बरके प्रभाचंद्र, जिनकी बाबत इस टीकाके कर्ता होनेका विशेष अनुमान किया गया है, वि० सं० १३१६ में मौजूद थे ही। १२ वें और १३ वें नम्बरके प्रभाचंद्रकी भी उस समय मौजूद होनेकी संभावना पाई जाती है। ऐसी हालतमें यहाँ जो कुछ निर्णय किया गया है उसमें उनके उस लिखनेसे कोई भेद नहीं पड़ता। अस्तु।

आभार और निवेदन।

अब इस प्रस्तावनाको यहीं पर समाप्त करते हुए, हम उन सभी विद्वानोंका हृदयसे आभार मानते हैं जिनके ग्रंथों, लेखों अथवा पत्रोंसे हमें इस 'प्रस्तावना' तथा 'स्वामीसमन्तभद्र' नामक ऐतिहासिक निबन्ध (इतिहास) के लिखनेमें कुछ भी सहायता मिली है। साथ ही, यह भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि इस प्रस्तावनादिके लिखे जानेका खास श्रेय ग्रंथमालाके सुयोग्य मंत्री सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीको ही प्राप्त है जिनकी सातिशय प्रेरणासे हम इस कार्यमें प्रवृत्त हुए और उसीके फलस्वरूप यह प्रस्तावना तथा इतिहास लेकर पाठकोंके सामने उपस्थित हो सके हैं। प्रस्तावनाको प्रारंभ किये हुए वर्ष भरसे भी ऊपर हो चुका, इस बीचमें बीमारी, और तज्जन्य निर्बलताके अतिरिक्त साधनसामग्रीकी विरलता तथा ऐतिहासिक प्रश्नोंकी जटिलता आदिके कारण कई बार इसे उठाकर रखना पड़ा और साधन सामग्रीको जुटाने आदिके कार्यमें लगना पड़ा। बीस बाईस दिनतक देहली ठहरकर एपिग्रेफिया कर्णाटिका (Epigraphia Carnatika) की भी बहुतसी जिल्दें देखी गईं, और अनेक विद्वानोंसे खास तौर पर पत्रव्यवहार भी किया गया। प्रस्तावनाको हाथमें लेते हुए यह नहीं समझा गया था कि यह सब कार्य इतना अधिक परिश्रम और समय लेगा अथवा इसे इतना विशाल रूप देना पड़ेगा। उस समय साधारण तौर पर यही ख्याल कर लिया गया था कि दो तीन महीनेमें ही हम इसे पूरा कर सकेंगे। और शायद इसी आशा पर प्रेमीजीने ग्रंथके छप जानेका उस समय नोटिस भी निकाल दिया था, जिसकी वजहसे उनके पास ग्रंथकी कितनी ही मांगें आईं और लोगोंने उसके भेजनेके लिये उनपर बार बार तकाजा किया। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी प्रेमीजी इधरके आशातीत और अनिवार्य विलम्बके कारण हताश नहीं हुए और न लोगोंके बार बार लिखने तथा तकाजा करनेसे तंग आकर, उन्होंने बिना प्रस्तावनादिके ही इस ग्रंथको प्रकाशित कर देना उचित समझा; बल्कि उसके फार्मोंको अबतक वैसे ही छपा हुआ रक्खा रहने दिया और हमें वे बरोबर प्रेमभरे शब्दोंमें प्रस्तावनादिको यथासंभव शीघ्र पूरा करनेकी प्रेरणा करते रहे; नतीजा जिसका यह हुआ कि आज वे अपनी उस प्रेरणामें सफल हो सके हैं। यदि प्रेमीजी इतने अधिक धैर्यसे काम न लेते तो आज यह प्रस्ता-

बना और इतिहास अपने वर्तमान रूपमें पाठकोंके सामने उपस्थित हो सकते, इसमें संदेह ही है। और इसी लिये हम इनके लिखे जानेका खास श्रेय प्रेमीजीको ही देते हैं। आपकी प्रेरणाको पाकर हम स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् पुरुषोंका पवित्र इतिहास लिखने और उनके ग्रंथादिकोंके विषयमें अपने कुछ विचारोंको प्रकट करनेमें समर्थ हो सके हैं, यही हमारे लिये आनंदका खास विषय है और इसके वास्ते हम प्रेमीजीके विशेष रूपसे आभारी हैं। इस अवसर पर देहलीके सुप्रसिद्ध अनुभवी राजवैद्य पं० शीतलप्रसादजीका धन्यवाद किये बिना भी हम नहीं रह सकते, जिन्होंने बड़े प्रेमके साथ हमें अपने पास रखकर निःस्वार्थ भावसे हमारी चिकित्सा की और जिनकी सच्चिकित्साके प्रतापसे हम अपनी खोई हुई शक्तिको पुनः प्राप्त करनेमें बहुत कुछ समर्थ हो सके हैं, और उसीका प्रथम फल यह कार्य है। इसमें संदेह नहीं कि हमारी वजहसे ग्रंथके शीघ्र प्रकाशित न हो सकनेके कारण कुछ विद्वानोंको प्रतीक्षाजन्य कष्ट जरूर उठाना पड़ा है, जिसका हमें स्वयं खेद है और इसलिये हम उनसे उसके लिये क्षमा चाहते हैं। इसके सिवाय अनुसंधान-प्रिय विद्वानोंसे हमारा यह भी निवेदन है कि इस प्रस्तावनादिके लिखनेमें यदि हमसे कहीं कुछ भूल हुई हो तो उसे वे प्रमाणसहित हमें लिख भेजनेका कष्ट जरूर उठाएँ। इत्यलम्।

सरसावा, जि० सहारनपुर
ता० १७–२–१९२५

जुगलकिशोर, मुख्तार।